।। ओ३म् ।।

महर्षि गौतम प्रणीत

न्यायदर्शनम्

(प्रथम अध्याय के सूत्रों के पदार्थ तथा भावार्थ)

ज्ञानेश्वरार्यः (M.Com) दर्शनाचार्य

प्रकाशक

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, जि. साबरकांठा (गुज.) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७०) २८६४१, ९४२७०५९५५०

E-mail : vaanaprastharojad@gmail.com

Website : www.vaanaprastharojad.org

प्राक्कथन

बहुत वर्षों से इच्छा थी कि **'न्यायदर्शन'** के प्रथम अध्याय के सूत्रार्थों तथा भावार्थों को लिखकर एक पुस्तिका बनायी जाये क्योंकि न्याय दर्शन को पढ़े बिना कोई व्यक्ति सत्य और असत्य को जान नहीं पाता है, किसी वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान नहीं सकता है। न्यायदर्शन का विषय ही यही है कि प्रमाणों के द्वारा किसी पदार्थ का परीक्षण करके निर्णय निकालना - **"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।"** 'न्यायदर्शन' के रचयिता महर्षि गौतम हैं और भाष्यकर्त्ता महर्षि वात्स्यायन हैं। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के दो दो आह्निक (भाग) हैं और इस शास्त्र में कुल ५३० सूत्र हैं।

यद्यपि ये न्यायविद्या वैदिक काल से चली आ रही है किन्तु वर्तमान में ५३० सूत्र वाला ग्रन्थ जिसकी व्याख्या महर्षि वात्स्यायन ने की है, उसका रचना काल निश्चित् नहीं है किन्तु यह तो कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ हजारों वर्ष पूर्व लिखा गया है। न्यायदर्शन का और वैशेषिकदर्शन का जोड़ा है, सांख्यदर्शन के साथ योगदर्शन का जोड़ा है तथा मीमांसादर्शन के साथ वेदान्त दर्शन का जोड़ा है। जोड़ा का तात्पर्य है-एक दूसरे के प्रतिपाद्य विषय मिलते-जुलते हैं तथा एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। न्यायदर्शन पढ़ा व्यक्ति यह जान सकता है कि मेरी मान्यताएं, सिद्धान्त, कथन, चर्चा गलत तो नहीं हैं, साथ ही दूसरे व्यक्ति के कथन, सिद्धान्त, मान्यता व बातचीत में कहीं गलती हो तो उसे भी वह पकड़ लेता है। न केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों के स्पष्ट ज्ञान के लिए न्यायदर्शन

आवश्यक है अपितु सामान्य लौकिक व्यवहारों को भी स्पष्ट, सत्य, सरल रूप में करने के लिए न्यायदर्शन की प्रक्रिया अत्यन्त सहायक होती है।

यद्यपि आद्योपान्त गुरुमुख से न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य को, जो कि संस्कृत भाषा में है पढ़ने से शास्त्र का पूर्ण स्पष्ट ज्ञान होता है, किन्तु जन सामान्य के लिए इतना समय लगाना तथा वैसी सूक्ष्म बुद्धि और संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए जिज्ञासु को दर्शन का सामान्य ज्ञान और उसके महत्त्व तथा उपयोगिता का लाभ हो सके इसलिए मात्र प्रथम अध्याय के दो आह्निकों का, वह भी मात्र पदार्थ और भावार्थ का लेखन इस लघु पुस्तिका में किया है। पुस्तिका के शब्द-संयोजन, परीक्षणादि का कार्य आश्रम के ही विद्वान् ब्रह्मचारियों आचार्य शक्तिनन्दन जी, ब्रह्मचारी कृष्णदेव जी, ब्रह्मचारी कमलदेव जी तथा बहन राज मलहोत्रा जी ने रुचि, निष्ठा तथा परिश्रमपूर्वक किया है। ऐसा होने पर ही मात्र दो सप्ताह के अल्प काल में यह पुस्तिका प्रकाशित होकर हमारे समक्ष आ गई है। मैं इन सभी का अनुगृहीत हूँ तथा कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

वस्तुतः इस पुस्तिका में जो कुछ भी मैंने लिखा है, वह ऋषियों का है, विद्वानों का ही है, मेरा नहीं है। मैं तो मात्र संकलन कर्त्ता हूँ। विद्वान् महानुभावों को यदि कोई त्रुटि दिखाई दे तो अवश्य बताने की कृपा करेंगे। आशा है इस पुस्तिका को पढ़कर अध्येताओं को सत्याऽसत्य का निर्णय करने का बोध होगा, साथ ही इस न्यायविद्या को सूक्ष्मता से पढ़ने के लिए जिज्ञासु बनेंगे। इसी विश्वास के साथ–

भवदीय
ज्ञानेश्वरार्यः

।। ओ३म् ।।

आशीर्वचन

समादरणीय श्री आचार्य ज्ञानेश्वर जी !

सादर नमस्ते।

ईश्वर की कृपा से मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक चल रहा है, आपका भी स्वास्थ्य उत्तम बना रहे, यह इच्छा है।

यह 'न्यायदर्शन' मोक्ष शास्त्र है अर्थात् इसको अच्छे प्रकार से गुरुओं से पढ़कर और मन, वचन व कर्म से क्रिया रूप में लाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष उसको कहते हैं कि-सब दुःखों, बन्धनों से छूटकर ईश्वर के नित्य व दुःख रहित आनन्द को प्राप्त करना और सर्वव्यापक परमात्मा में स्वतन्त्रता से विचरना। मोक्ष नाम ईश्वर का ही है ईश्वर से पृथक् मोक्ष नाम का कोई पदार्थ नहीं है। जो जीवात्मा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है उसको ईश्वर नियत काल तक मोक्ष में रखता है, मोक्ष की अवधि-३१ नील, १० खरब, व ४० अरब वर्ष है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि "जो जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है वह पुनः लौटकर नहीं आता"- यह मान्यता वेदों के विरुद्ध है, महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इस सिद्धान्त को वेद के प्रमाणों से सिद्ध किया है।

यह लघु पुस्तक **'न्यायदर्शन'** के सिद्धान्तों का जन सामान्य में ज्ञान कराने के लिए उपयोगी होगी, सत्यासत्य के निर्णय के लिए इन सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। आपने इस पुस्तक को लिखकर के उत्तम कार्य किया है इसके लिए आपको शुभाशीर्वाद।

भवदीय

स्वामी सत्यपति परिव्राजक स्वामीसत्यपति

भाद्रपद शुक्ल/१४/२०७४ (०५/०९/२०१७)

ऋषियों का संदेश

१. विषयों को भोगकर, इन्द्रियों की तृष्णा को समाप्त करनेवाला तुम्हारा विचार ऐसा ही है, जैसा कि आग को बुझाने के लिए उसमें घी डालना ।

२. यह मानना तुम्हारा सबसे बड़ा अज्ञान है कि "मैं कभी मरूँगा नहीं, "यह शरीर बहुत पवित्र है", "विषय भोगों में पूर्ण और स्थायी सुख है", तथा "यह देह ही आत्मा है" ।

३. तुम्हारे मन में अच्छे या बुरे विचार अपने आप नहीं आते । इन विचारों को तुम अपनी इच्छा से ही उत्पन्न करते हो, क्योंकि मन तो यन्त्र के समान जड़ वस्तु है, उसका चालक आत्मा है ।

४. किसी के अच्छे या बुरे कर्म का फल तत्काल प्राप्त होता न देख कर तुम यह मत विचारो कि इन कर्मों का फल आगे नहीं मिलेगा । कर्म-फल से कोई भी बच नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा न्यायकारी है ।

५. संसार (=प्रकृति), संसार को भोगनेवाला (=जीव) तथा संसार को बनाने वाले (=ईश्वर) के वास्तविक स्वरूप को जानकर ही तुम्हारे समस्त दुःख, भय, चिन्ताएँ समाप्त हो सकती हैं और कोई उपाय नहीं है ।

६. "मनुष्य जीवन ईश्वर प्राप्ति के लिए मिला है", इस मुख्य लक्ष्य को छोड़कर अन्य किसी भी कार्य को प्राथमिकता मत दो, नहीं तो तुम्हारा जीवन चन्दन के वन को कोयला बनाकर नष्ट करने के समान ही है ।

७. तुम्हारे जीवन की सफलता तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अविद्या के कुसंस्कारों को नष्ट करने में ही है। यही समस्त दुःखों से छूटने का श्रेष्ठ उपाय है।

८. जब तक तुम संसार के सुखों के पीछे छिपे हुए दुःखों को समझ नहीं लोगे, तब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा। बिना वैराग्य के चंचल मन एकाग्र नहीं होगा, एकाग्रता के बिना समाधि नहीं लगेगी, समाधि के बिना ईश्वर का दर्शन नहीं होगा, बिना ईश्वर-दर्शन के अज्ञान का नाश नहीं होगा और अज्ञान का नाश हुए बिना दुःखों की समाप्ति और पूर्ण तथा स्थायी सुख (=मुक्ति)की प्राप्ति नहीं होगी ।

९. तुम इस सत्य को समझ लो कि अज्ञानी मनुष्य ही जड़ वस्तुओं (=भूमि, भवन, सोना, चांदी आदि) तथा चेतन वस्तुओं (=पति, पत्नी, पुत्र, मित्र, आदि) को अपनी आत्मा का एक भाग मानकर, इनकी वृद्धि होने पर प्रसन्न तथा हानि होने पर दुःखी होता है।

१०. तुम्हारे लोहेरूपी मन को, विषय भोगरूपी चुम्बक सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं । ज्ञानी मनुष्य विषय भोगों से होने वाली हानियों का अनुमान लगाकर इनमें आसक्त नहीं होते, किन्तु अज्ञानी मनुष्य इनमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं ।

११. महान् ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों का भण्डार, ईश्वर एक चेतन वस्तु है, जो अनादिकाल से तुम्हारे साथ है, न कभी वह अलग हुआ, न कभी होगा । उसी संसार के बनानेवाले, पालन करनेवाले, सबके रक्षक, निराकार ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना तुम सब मनुष्यों को सदा करनी चाहिए ।

।। ओ३म् ।।

न्यायदर्शनम्

।। अथ प्रथमाऽध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।।

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।। १ ।।

शब्दार्थ : प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों के (तत्त्वज्ञानात्) यथार्थज्ञान से (निःश्रेयसाधिगमः) मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावार्थ : महान् वैज्ञानिक-महर्षि गौतम ने मनुष्यों को समस्त दुखों, बन्धनों से छूटकर परमानन्द को प्राप्त कराने के लिए प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह विषयों का यथार्थ-वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश किया है। जो मनुष्य इन विषयों को स्पष्ट जान लेता है वह मोक्ष-अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इन समस्त विषयों की आगे के सूत्रों में क्रमशः विस्तार से परिभाषा की जायेगी तथा व्याख्या भी की जायेगी। इस प्रथम सूत्र में सोलह विषयों का क्रम भी उनकी श्रेष्ठता के कारण पहले, बीच में और अन्त में किया गया है। प्रमाण प्रत्येक विषय-पदार्थ के ज्ञान का साधन

है, जो विषय प्रमाण से जाना जाता है वह प्रमेय कहलाता है। इस प्रकार इन सोलह विषयों का प्रथम अध्याय में विवेचन किया जायेगा।

भूमिका : प्रश्न होता है कि क्या उपर्युक्त सोलह पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के होने पर तत्काल मोक्ष हो जाता है या उसका कोई अन्य प्रकार भी है ? तो सूत्रकार उत्तर देता है कि इन पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर मिथ्याज्ञान नष्ट होता है और मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर मोक्ष होता है, पूरी प्रक्रिया निम्न है-

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये
तदनन्तरापायादपवर्गः ।। २।।

शब्दार्थ : दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के **(उत्तरोत्तराऽपाये)** आगे-आगे के पदार्थों के नष्ट हो जाने पर **(तदनन्तरापायात्)** उस-उस के अनन्तर अर्थात् अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से **(अपवर्गः)** मोक्ष होता है।

भावार्थ : सूत्र में पाँच विषय बताये गये हैं। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान। दुःख का कारण जन्म लेना है, जन्म लेने का कारण प्रवृत्ति=सकाम कर्म हैं, सकाम कर्मों का कारण दोष-राग, द्वेष और मोह हैं दोषों का कारण मिथ्याज्ञान-उल्टाज्ञान-गलतज्ञान है। अर्थात् मिथ्याज्ञान होने से ही दोष=राग, द्वेष, मोह उत्पन्न होते हैं और दोष के होने से ही प्रवृत्ति=सकाम कर्म होते हैं और प्रवृत्ति के होने से ही जन्म (शरीर) मिलता है और जन्म मिलने से ही दुःख=बन्धन, भय, चिन्ता, पीड़ा, रोग, मृत्यु आदि उत्पन्न होते हैं। इसलिए दुःखों से बचने

के लिए जन्म (शरीर धारण करना) को रोकना चाहिए। जन्म को रोकने के लिए बुरे और अच्छे सकाम कर्मों को बन्द करना चाहिए और सकाम कर्मों को रोकने के लिए मिथ्याज्ञान को नष्ट करना चाहिए। यहाँ कारण-कार्य भाव बताया गया है। इस प्रक्रिया से मनुष्य समस्त दुःखों से छूटकर पूर्णानन्द मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

भूमिका : अगले सूत्र में १६ पदार्थों में प्रथम पदार्थ प्रमाण कितने प्रकार के होते हैं यह बताते हैं-

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।। ३।।

शब्दार्थ : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं।

भावार्थ : प्रमाण चार प्रकार के होते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन प्रमाणों-साधनों से किसी वस्तु-विषय-पदार्थ का ज्ञान होता है, निश्चय किया जाता है, उसका वास्तविक स्वरूप जाना जाता है। इन प्रमाणों के विषय में आगे के सूत्रों में विस्तार से व्याख्या करेंगे।

भूमिका : प्रमाण के विभागों में प्रथम **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** का लक्षण अगले सूत्र से करते हैं -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।। ४।।

शब्दार्थ : **(इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्)** इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सम्बन्ध से उत्पन्न ऐसा **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अव्यपदेश्यम्)** जो व्यपदेश्य

न हो, **(अव्यभिचारि)** व्यभिचारी न हो, **(व्यवसायात्मकम्)** और निश्चयात्मक हो वह **(प्रत्यक्षम्)** प्रत्यक्ष/प्रमाण कहलाता है।

भावार्थ : प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा एवं व्याख्या करते हुए सूत्रकार कहता है कि नेत्रादि पाँच इन्द्रियों का रूप आदि पाँच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, उन विषयों का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। किन्तु वह प्रत्यक्ष ज्ञान तीन विशेषताओं से युक्त होना चाहिए। यदि ये तीन विशेषताएं उस प्रत्यक्ष प्रमाण में नहीं हैं तो वह प्रत्यक्ष नहीं कहलायेगा।

पहली विशेषता है कि वह प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य होना चाहिए अर्थात् केवल शाब्दिक ज्ञान नहीं होना चाहिए, अनुभवात्मक होना चाहिए। जैसे किसी ने कहा "लड्डू, बर्फी, पेड़ा" इन शब्दों को सुनकर जो ज्ञान होता है वह शब्दमात्र है, व्यपदेश्य है। जब लड्डू, बर्फी, पेड़े आदि वस्तुओं को आँखों से देखता है, सूँघता है, छूता है या खाता है, वह ज्ञान अव्यपदेश्य है। अर्थात् विषय का केवल शाब्दिक ज्ञान न होकर अनुभवात्मक ज्ञान होना अव्यपदेश्य कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में दूसरी विशेषता है अव्यभिचारी अर्थात् नष्ट न होने वाला, जो नष्ट हो जाता है वह व्यभिचारी होता है। उदाहरण के लिए सड़क पर गाड़ी में बैठे हुए दूर से सड़क पर पानी की लहरें देखते हैं और ऐसा मान लिया कि आगे एक-दो किलोमीटर पर सड़क पर पानी है, किन्तु पास में जाते हैं तो वह पानी नहीं दिखाई देता है, जिसको मृग-मरीचिका भी कहते हैं, ऐसा ज्ञान व्यभिचारी कहलाता है। इसी

प्रकार अन्धेरे में सांप को रस्सी मान लेते हैं, रस्सी को सांप मान लेते हैं, प्रकाश होने पर वह मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण में तीसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह व्यवसायात्मक-सन्देह रहित-निश्चयात्मक होना चाहिए, अनिश्चयात्मक नहीं। जैसे कि अन्धेरे में हम मार्ग पर चल रहे हैं, सामने किसी चार-पाँच फीट के आकार वाली वस्तु को देखते हैं तो मन में यह संशय होता है कि कहीं ये चोर, डाकू या लुटेरा है या फिर कोई सूखा पेड़ है। दूर से स्पष्ट दिखाई न देने पर यह निश्चित ज्ञान नहीं होता है कि यह गाय है या घोड़ा। जिस किसी भी विषय-वस्तु को हम जानना चाहते हैं वह सन्देहात्मक नहीं होनी चाहिए। प्रत्यक्ष तभी प्रमाण कहलाता है जब प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु का ज्ञान सन्देहात्मक न हो या कोई कमी न रहे।

भूमिका : प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद क्रम से अगले **'अनुमान प्रमाण'** का स्वरूप-लक्षण तथा उसके विभाग भी बताते हैं-

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववत्
शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।। ५।।

शब्दार्थ : **(अथ)** अब प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद **(तत्पूर्वकम्)** प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला **(त्रिविधम्)** तीन प्रकार का **(अनुमानम्)** अनुमान प्रमाण है। वे तीन प्रकार के हैं **(पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टम्)** पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

भावार्थ : यहाँ सूत्र में अनुमान प्रमाण की परिभाषा करते हुए सूत्रकार ने एक विशेषता बतायी है कि किसी वस्तु से सम्बन्धित

अनुमान प्रमाण तभी कहलाता है जब उस व्यक्ति ने पहले कभी साध्य-साधक सम्बन्ध (व्याप्ति) को प्रत्यक्ष रूप से देखा हो, व्याप्ति के पूर्व में प्रत्यक्ष किये बिना अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है।

यह अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है-

(१) पूर्ववत् - अर्थात् **"किसी कारण से किसी कार्य का ज्ञान होना"** पूर्ववत् अनुमान प्रमाण कहलाता है, जैसे कि आकाश में आये हुए काले घने बादलों को देखकर यह सम्भावना करना कि अब वर्षा होने वाली है या हो सकती है। यहाँ बादलों का आना, दिखाई देना कारण है और वर्षा का होना कार्य है।

(२) शेषवत् - जहाँ **"कार्य से कारण का ज्ञान हो"** तो इस अनुमान को शेषवत् अनुमान प्रमाण कहा जाता है। जैसे नदी में सहसा ही जल की मात्रा तथा प्रवाह बढ़ जाता है और पानी में मिट्‌टी, पत्ते, कूड़ा-कबाड़ भी बहते चले आ रहे हैं तो ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ऊपर के भागों में कहीं वर्षा हुई है, इसे शेषवत् अनुमान प्रमाण कहते हैं।

(३) सामान्यतो दृष्ट - किसी पूर्वकाल में भिन्न स्थान पर देखी गई वस्तु या पदार्थ वर्तमान काल में भिन्न स्थान पर देखी जाने पर अदृष्ट क्रिया का अनुमान कराती है, इसे सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे राम नामक व्यक्ति को कल दिल्ली में देखा था, आज उसको मुम्बई में देखते हैं तो यह अनुमान लगता है कि वह यात्रा करके दिल्ली से मुम्बई आया है। यहाँ उसकी यात्रा का प्रत्यक्ष

नहीं हुआ किन्तु यह अनुमान लगाया कि वह बिना चले-बिना यात्रा किये दिल्ली से मुम्बई नहीं आ सकता। यही सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

भूमिका : अब आगे क्रम से प्राप्त **'उपमान प्रमाण'** का स्वरूप-लक्षण बताते हैं-

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्॥ ६॥

शब्दार्थ : (प्रसिद्धसाधर्म्यात्) जाने हुए साधर्म्य-सादृश्य से **(साध्यसाधनम्)** साध्य का साधन = साध्य को सिद्ध करने वाला **(उपमानम्)** उपमान होता है।

भावार्थ : किन्हीं दो वस्तुओं (एक देखी हुई, दूसरी नहीं देखी हुई) का गुण, कर्म, स्वभाव एक ही प्रकार का होता है तो भविष्य में न देखी हुई वस्तु को देखकर उसके गुण, कर्म, स्वभावों को देखी हुई वस्तु के समान जानकर उसके नाम का ज्ञान कर लेना **'उपमान प्रमाण'** कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति नीलगाय को नहीं जानता है, उसको बताया जाता है कि जैसी सामान्य गाय होती है उससे मिलती जुलती ही नीलगाय होती है। जब कभी वह जंगल में नीलगाय को देखता है तो वह अनुमान लगा लेता है कि यह पशु नीलगाय है क्योंकि गाय के समान ही इसका आकार आदि है। पहले से जाने हुए गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर प्रत्यक्ष वस्तु का नाम जान लेना और निश्चय कर लेना कि यह वही वस्तु है जिसका ज्ञान मुझे नहीं था।

भूमिका : अब क्रम से प्राप्त **'शब्द प्रमाण'** का कथन करते हैं-

आप्तोपदेशः शब्दः।। ७।।

शब्दार्थ : (आप्तोपदेशः) आप्त का उपदेश-कथन **(शब्दः)** शब्द नामक प्रमाण है।

भावार्थ : किसी वस्तु के गुण, कर्म, स्वभावों को अच्छी प्रकार से जान लेने वाला व्यक्ति उस वस्तु के विषय में आप्त कहलाता है। वह आप्त व्यक्ति उस वस्तु के विषय में अन्य व्यक्तियों को जैसा जानता है वैसा बताता है तो वह उपदेष्टा कहलाता है। उस व्यक्ति का कथन-वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है। इस शब्द प्रमाण से मनुष्यों में (बल्कि पशु-पक्षियों में भी) व्यवहार चलता है, शब्द प्रमाण के होने के लिए यही आवश्यक है कि बताने वाला वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता हो तथा जैसा जानता है वैसा ही अन्यों को बताता हो।

भूमिका : शब्द प्रमाण का लक्षण करके अब शब्द प्रमाण के भेद का निर्देश अगले सूत्र में करते हैं-

स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्।। ८।।

शब्दार्थ : (सः) वह प्रामाणिक शब्द नामक प्रमाण **(द्विविधः)** दो प्रकार का है, दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से।

भावार्थ : जिस शब्द प्रमाण के माध्यम से श्रोता इसी जीवन में, शरीर के होते हुए कथित वस्तु, क्रिया या पदार्थ को जान लेता है, प्राप्त कर लेता है, वह शब्द प्रमाण दृष्टार्थ शब्द प्रमाण कहलाता है।

उदाहरण के लिए किसी ने कहा कि एक किलोमीटर दूर सड़क पर दुर्घटना हो गई है, दो व्यक्ति मर गये हैं, गाड़ी में आग लग गई है। सुनने वाला व्यक्ति वहाँ जाकर देखता है तो वैसा ही पाता है, यह दृष्टार्थ शब्द प्रमाण है।

जिस शब्द प्रमाण से अर्थ या वस्तु इसी जीवन में शरीर के रहते हुए प्राप्त नहीं होती है, अगले जीवन में प्राप्त होती है, वह शब्द प्रमाण अदृष्ट शब्द प्रमाण कहलाता है। जैसे- "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। यह स्वर्ग इसी जन्म में नहीं मिलता है, भविष्य में-अगले जीवन में स्वर्ग-उत्तम जीवन, सुख-साधन तथा सुविधाएं मिलती हैं, इसलिए यह शब्द प्रमाण अदृष्टार्थ है।

भूमिका : प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लक्षण तथा विभाग बताकर अब अगले सूत्र में सूत्रकार यह बताते हैं कि इन प्रमाणों से जानने योग्य विषय (पदार्थ)-प्रमेय क्या हैं ? जिनका जानना आवश्यक है-

आत्म-शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम्।। ६।।

शब्दार्थ : **(आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गाः)** आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह) **(तु)** तो **(प्रमेयम्)** प्रमेय हैं।

भावार्थ : सूत्र में बताये गये आत्मा, शरीर आदि १२ पदार्थ प्रमेय हैं अर्थात् ज्ञान के विषय हैं। इन १२ वस्तुओं को जान लेने से मनुष्य को अपवर्ग-जन्म मरण रूपी बन्धन चक्र से मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति

होती है। इन पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानने से ही मनुष्य दुःखी होता है, अन्यों को भी दुःखी करता है। इन प्रमेयों में आत्मा मुख्य है, आत्मा शब्द से जीव तथा ईश्वर दोनों आ जाते हैं। इन सभी १२ पदार्थों का वर्णन सूत्रकार स्वयं आगे करेंगे, वहाँ पर इनका स्वरूप जान लेना चाहिए।

भूमिका : पूर्व सूत्र में बताए गये १२ प्रमेयों में से सर्वप्रथम **'आत्मा'** नामक पदार्थ का सूत्रकार इस सूत्र में लक्षण करते हैं-

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।। १० ।।

शब्दार्थ : **(इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि)** इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान **(आत्मनः)** आत्मा के लिंग (पहचान) हैं।

भावार्थ : आत्मा के परिचायक-लिंग-चिन्ह इच्छा, द्वेषादि छः हैं अर्थात् जहाँ पर जिस शरीर में ये लक्षण पाये जाते हैं वहाँ पर आत्मा है, जिसमें ये लक्षण नहीं हैं वहाँ समझना चाहिए आत्मा नहीं है।

(१) इच्छा-किसी वस्तु को देखकर, उसको लाभकारी-सुखदायी जानकर उसको लेने की मन में भावना बनाना इच्छा कहलाती है।

(२) द्वेष-किसी वस्तु-पदार्थ या क्रिया से दुःख/हानि की अनुभूति होती है तो उसके प्रति मन में घृणा, उपेक्षा उत्पन्न होती है तो उसे दूर करने या नष्ट करने की भावना बनती है, वह द्वेष कहलाता है।

(३) प्रयत्न-जिन साधनों, सुविधाओं, वस्तुओं से मनुष्य सुख, शान्ति, सन्तोष और तृप्ति की अनुभूति करता है, उसको प्राप्त करने के लिए आत्मा जो आन्तरिक चेष्टा करता है उसे प्रयत्न कहते हैं।

(४) सुख-किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया से मनुष्य को अनुकूल अनुभूति होती है तो वह सुख कहलाता है।

(५) दुःख-किसी व्यक्ति, वस्तु या क्रिया से मनुष्य को बाधा, पीड़ा, भय, चिन्ता या अशांति की अनुभूति होती है तो वह दुःख कहलाता है।

(६) ज्ञान-किसी वस्तु के स्वरूप-गुण, कर्म, स्वभाव को जान लेना **'ज्ञान'** कहलाता है।

भूमिका : आत्मा के बाद शरीर का लक्षण सूत्रकार अगले सूत्र से करते हैं-

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।। ११।।

शब्दार्थ : (चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः) चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय (शरीरम्) शरीर कहा जाता है।

भावार्थ : इस सूत्र में शरीर का लक्षण बताया गया है। शरीर चेष्टा का आश्रय है। जब मनुष्य यह जानता है कि यह वस्तु या क्रिया मेरे लिए लाभकारी है, सुखदायी है, तब वह उस वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा करता है और उसके अनुरूप जो क्रिया-विशेष करता है वह **'चेष्टा'** कहलाती है। इसी प्रकार जो वस्तु मेरे लिए हानिकारक है, दुखदायी है, उसको छोड़ने का प्रयास करना भी चेष्टा कहलाता है, इन चेष्टाओं का आश्रय शरीर है इसलिए शरीर को चेष्टाश्रय कहा गया है क्योंकि शरीर से ही जीवात्मा चेष्टा करता है, शरीर के बिना चेष्टा हो ही नहीं सकती। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नपूर्वक जो क्रिया की जाती है वह

'चेष्टा' कहलाती है तथा जो क्रिया ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नपूर्वक नहीं होती है वह चेष्टा नहीं होती है। जैसे प्राणों का चलना, रक्त संचार होना आदि ये सब क्रियाएं स्वाभाविक हैं। नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा रूप, रसादि विषयों का सेवन जीवात्मा करता है। ये इन्द्रियां स्वतन्त्र रूप से बिना शरीर के जीव को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करा सकती हैं। इन इन्द्रियों का आधार शरीर है इसलिए शरीर को इन्द्रियों का आश्रय कहा गया है।

अर्थ का तात्पर्य है सुख-दुःख का उपभोग करना। इन्द्रियों तथा विषयों के सम्बन्ध से जो सुख-दुःख आदि की अनुभूति जीव करता है, वह शरीर होने पर होती है। इसलिए शरीर को अर्थ का भी आश्रय-आधार कहा गया है।

भूमिका : आगे के सूत्र में **'इन्द्रियों'** के विषय में बताया है कि-

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।। १२।।

शब्दार्थ : (घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि) घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियां हैं जो **(भूतेभ्यः)** भूतों से (उत्पन्न व सम्बद्ध हैं)।

भावार्थ : प्रसंग के अनुसार सूत्रकार ने इन्द्रियों के विषय पर कुछ प्रकाश डाला है। घ्राण-गन्ध ग्रहण करने का साधन, रसन-रस ग्रहण करने का साधन, चक्षु- रूप देखने का साधन, त्वक्-स्पर्श ग्रहण करने का साधन, श्रोत्र-शब्द ग्रहण करने का साधन है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां

(इन्द्रिय-गोलक) पाँच सूक्ष्म भूतों से बनी हैं, जिनका वर्णन अगले सूत्र में किया गया है।

ध्यान देने की बात है कि शरीर में स्थित जो स्थूल नाक, जीभ, आँखें, कान और चमड़ी आदि हैं वे ज्ञानेन्द्रियां नहीं हैं, ये इन्द्रियों के गोलक हैं इस सूत्र में गोलकों को ही स्थूल रूप में इन्द्रिय शब्द से कहा गया है, ज्ञानेन्द्रियां इन गोलकों के माध्यम से गन्धादि विषयों का ग्रहण करती हैं।

भूमिका : इन्द्रियों के उपादान कारण कौन से भूत हैं, इसका उत्तर सूत्रकार ने अगले सूत्र मे बताया है कि-

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ।। १३ ।।

शब्दार्थ : पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये (पाँच) भूत हैं।

भावार्थ : पिछले सूत्र में कहा गया था कि घ्राणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियां पाँच भूतों से बनी हैं। ये पाँच भूत कौन से हैं, इनका नाम इस सूत्र में बताया गया है, जो घ्राणादि इन्द्रियों के उपादान कारण हैं। पृथिवी नामक भूत से घ्राणेन्द्रिय बनी है, आपः नामक भूत से रसना इन्द्रिय बनी है, तेजस् नामक भूत से चक्षु इन्द्रिय बनी है, वायु नामक भूत से त्वक् नामक इन्द्रिय बनी है और आकाश नामक भूत से श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय बनी है।

भूमिका : घ्राणादि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय कौन कौन से हैं, इसका कथन अगले सूत्र में किया है-

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।। १४।।

शब्दार्थ : गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द यथाक्रम **(पृथिव्यादिगुणाः)** पृथिवी आदि के गुण हैं और **(तदर्थाः)** उन घ्राणादि इन्द्रियों के विषय हैं।

भावार्थ : गन्ध गुण पृथिवी भूत का है, जो दो प्रकार का होता है, सुरभि- अच्छे लगने वाली गन्ध, असुरभि-जो अच्छी नहीं लगती है। **रस गुण** जल भूत का है जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तथा तिक्त छः प्रकार का होता है। **रूप गुण** तेजस् भूत का है जो वास्तव में श्वेत है कि पृथ्वी भूत के साथ मिलकर सफेद, लाल, नीला, पीला, हरा, कपिश तथा चित्र-विचित्र प्रकार का प्रतीत होता है। **स्पर्श गुण** वायु नामक भूत का है जो ठण्डा, गरम, न ठण्डा न गरम अनुभव वाला होता है। ये विशेषताएं पृथ्वी, जल, तेजस् भूतों के सम्बन्ध से होती हैं। **शब्द गुण** आकाश भूत का है, यह वर्णात्मक (अ,ब,स,क) तथा ध्वन्यात्मक दो प्रकार का होता है। वर्णात्मक शब्द मनुष्यों द्वारा बोला जाता है और ध्वन्यात्मक शब्द पशु-पक्षी द्वारा उच्चारित किया जाता है तथा अन्य पदार्थों से उत्पन्न होता है। सूत्र में **'अर्थ'** शब्द का तात्पर्य विषय है अर्थात् गन्धादि गुणों के ग्रहण करने में यथाक्रम घ्राणादि इन्द्रियां साधन हैं।

भूमिका : आत्मा आदि जानने योग्य विषयों का लक्षण करके आगे के सूत्र में क्रम से प्राप्त **'बुद्धि'** का लक्षण करते हैं-

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।। १५।।

शब्दार्थ : बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान **(इति)** ये तीनों पद **(अनर्थान्तरम्)** एक ही अर्थ के वाचक है, विभिन्न अर्थों के नहीं।

भावार्थ : सूत्र में कहा गया है कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान तीनों पर्यायवाची शब्द हैं अर्थात् इन तीनों का एक ही अर्थ है, अलग-अलग नहीं है। एक बात जानने की है कि शास्त्रों में बुद्धि दो प्रकार की होती है - एक प्रकृति से बना हुआ पदार्थ, (वस्तु) जो ज्ञान प्राप्त करने का साधन है और अन्तःकरण का एक भाग है। बुद्धि का दूसरा अर्थ है ज्ञान, जो मन, इन्द्रिय तथा शरीर के माध्यम से विषय वस्तुओं का ज्ञान होता है, उस ज्ञान को भी बुद्धि कहते हैं। यहाँ सूत्र में बुद्धि शब्द से ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए न कि साधन/उपकरण जिससे ज्ञान प्राप्त होता है।

भूमिका : प्रमेयों के क्रम में बुद्धि के बाद आये **'मन'** नामक पदार्थ का लक्षण करते हैं-

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।। १६।।

शब्दार्थ : **(युगपत्)** एक साथ **(ज्ञानानुत्पत्तिः)** ज्ञानों की उत्पत्ति न होना **(मनसः)** मन का **(लिङ्गम्)** **लिङ्ग**-चिन्ह-लक्षण है।

भावार्थ : इस सूत्र में सूत्रकार ने मन नामक अन्तःकरण की परिभाषा-लक्षण बताया है। घ्राणादि इन्द्रियां केवल रूपादि विषयों का ही ज्ञान कराती हैं। स्मृति, स्वप्न, अनुमान, संशय, प्रतिभा (अचानक किसी ज्ञान का उत्पन्न होना) ऊहा, तर्क, संकल्प, सुख, दुःख, भय आदि की अनुभूति इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से नहीं होती है। इसके

लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा है, वह साधन मन है। ये सब अनुभूतियां, स्थितियां मन के अस्तित्त्व को सिद्ध करती हैं।

घ्राणादि इन्द्रियां एक काल में एक साथ बाह्य विषयों का ज्ञान उत्पन्न करती हैं किन्तु जीवात्मा को एक समय में एक ही इन्द्रिय के विषय का बोध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान को एक साथ जीवात्मा को प्राप्त न कराने में मन नामक इन्द्रिय एक माध्यम है जो क्रम से-एक एक करके विषयों का बोध कराता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन जुड़ता है उस विषय का ज्ञान जीव को होता है, जिसके साथ नहीं जुड़ता है उसका ज्ञान जीव को नहीं होता है। भाव यह निकला कि जीवात्मा को एक काल में अनेक इन्द्रियों के ज्ञान को एक साथ न होने देने में एक कारण है-वह कारण है मन। यदि वह नहीं होता तो जीव को एक साथ सभी पाँचों विषयों का ज्ञान होता। यह व्यवस्था मन के अस्तित्त्व को सिद्ध करती है।

प्रश्न किया जा सकता है कि हम एक साथ देख भी रहे होते हैं, सुन भी रहे होते हैं, बोल भी रहे होते हैं, खा भी रहे होते हैं तब आप कैसे कहते हैं कि एक साथ इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता। इसका उत्तर है कि मन की कार्य करने की क्षमता, गति इतनी तीव्र है कि वह एक सेकण्ड से भी कम समय में विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमशः-एक एक करके जुड़ता रहता है, स्थूल रूप में वे विषय एक साथ अनुभव होते दिखायी देते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि वे एक एक करके ही ज्ञात होते हैं न कि एक साथ।

भूमिका : क्रम से प्राप्त प्रमेयों में सूत्रकार **'प्रवृत्ति'** का स्वरूप बताते हैं-

प्रवृत्तिर्-वाक्-बुद्धि-शरीरारम्भः।। १७।।

शब्दार्थ : (वाग्बुद्धिशरीराम्भः) वाणी बुद्धि और शरीर से किया गया आरम्भ=क्रिया **(प्रवृत्तिः)** प्रवृत्ति कहाती है।

भावार्थ : अब प्रमेयों में गिनाये गये पदार्थों में क्रमशः प्रवृत्ति का स्वरूप भाष्यकार बता रहे हैं। सूत्रकार कहते हैं कि वाणी, बुद्धि, तथा शरीर के द्वारा जो पाप-पुण्य रूपी कर्म किये जाते हैं उनका नाम प्रवृत्ति है। यहाँ विशेष रूप से जानना चाहिए कि सूत्र में बुद्धि का अर्थ ज्ञान-अनुभूति नहीं है बल्कि कर्म करने का साधन मन का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि प्रकरण में बुद्धि को करण-साधन के रूप में ग्रहण किया है न कि ज्ञान के रूप में। प्रवृत्ति- पाप रूप दस प्रकार की तथा पुण्य रूप दस प्रकार की होती है। जब मनुष्य पुण्य कर्मों को करने की इच्छा करता है तो वह शरीर से (१) दान (२) दूसरों की रक्षा (३) सेवा कार्य करता है। वाणी से (१) सत्य भाषण (२) मधुर वाणी (३) दूसरे के कल्याण की बातें (४) हितकारी शास्त्रों का स्वाध्याय करता है और मन से (१) प्राणियों के प्रति दया (२) लोभ की भावना का त्याग करना (३) आस्तिकता=ईश्वर पर, पुनर्जन्म में, कर्मफल में विश्वास बनाए रखना। ये सब शरीर, वाणी तथा मन से दस प्रकार के पुण्य-शुभ कर्म होते हैं। इसके विपरीत जब मनुष्य की इच्छा पाप-अशुभ कर्मों को करने की होती है जब वह शरीर से (१) हिंसा (२) चोरी (३) प्रतिषिद्ध मैथुन का

आचरण करता है। वाणी से (१) झूठ (२) कठोर (३) चुगलखोरी (४) व्यर्थ की चर्चा करता है। मन से (१) दूसरों के प्रति द्रोह (२) दूसरे के धन सम्पत्ति को लेने की इच्छा करना (३) आस्तिकता-ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि में विश्वास न बनाये रखना। ये दस प्रकार के शरीर, वाणी तथा मन से अशुभ-पाप कर्म होते हैं। ये दोनों प्रकार के कर्म अच्छे-बुरे जन्म का कारण बनते हैं।

भूमिका : प्रवृत्ति के बाद क्रम से प्राप्त **'दोषों'** का स्वरूप सूत्रकार निम्न प्रकार से बताते हैं-

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः।। १८।।

शब्दार्थ : (प्रवर्त्तनालक्षणाः) प्रवृत्ति/कर्म का हेतु होना, जिनका लक्षण-स्वरूप है, ऐसे कारणों को **(दोषाः)** दोष कहा जाता है।

भावार्थ : प्रमेयों-जानने योग्य विषयों में क्रमशः इस सूत्र से दोष नामक विषय के स्वरूप को बताया गया है। सूत्र में प्रवर्त्तना शब्द का अर्थ है प्रवृत्ति-कर्मों का हेतु-कारण जो है वह दोष है अर्थात् दोष वह है जो प्रवृत्ति अच्छे -बुरे कर्मों को कराने वाला है अर्थात् साधारण रूप में राग-द्वेष मोह को दोष समझना चाहिए। एक प्रश्न इस सूत्र पर हो सकता है कि सूत्रकार ने "रागद्वेषमोहा दोषाः" सरल भाषा में परिभाषा क्यों नहीं की, इसका उत्तर यह है कि केवल रागादि को दोष कह दिया जाता तो राग, द्वेष, मोह=मिथ्याज्ञान तथा प्रवृत्ति=पाप, पुण्य कर्मों का परस्पर कारण कार्य भाव है, यह नहीं ज्ञात होता। वह सूत्र अधूरा होता इसलिए सूत्र में दोष का यह लक्षण बताना पूर्ण है।

भूमिका : आगे **'प्रेत्यभाव'** प्रमेय का लक्षण बताते हैं-

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ।। १९ ।।

शब्दार्थ : **(पुनः)** फिर उत्पन्न होना/जन्म लेना **(प्रेत्यभावः)** प्रेत्यभाव है।

भावार्थ : प्रेत्यभाव शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है एक 'प्रेत्य' दूसरा 'भाव' दो शब्दों में से पहले शब्द प्रेत्य का अर्थ है प्रकृष्ट रूप में यहाँ से जाकर=शरीर से निकलकर=मरकर वापस उसी शरीर में न आना और भाव शब्द का अर्थ है फिर होना=मरकर फिर नये शरीर को धारण करना। आत्मा मरकर जीता है, जी कर फिर मरता है, इस स्थिति को प्रेत्यभाव शब्द से कहा जाता है।

वस्तुतः आत्मा न मरता है, न उत्पन्न होता है किसी शरीर को छोड़ देना मृत्यु और किसी शरीर को धारण कर लेना जन्म कहलाता है, यह जीवात्माओं के जन्म-मृत्यु का क्रम, जब अपवर्ग यानि मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, तब समाप्त हो जाता है।

भूमिका : क्रम से प्राप्त प्रमेयों में **'फल'** का लक्षण बताते हैं-

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ।। २० ।।

शब्दार्थ : **(प्रवृत्तिदोषजनितः)** प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ, जो **(अर्थः)** भोग है, वह **(फलम्)** फल शब्द से कहा जाता है।

भावार्थ : पिछले सूत्रों में प्रवृत्ति=पाप-पुण्य रूपी कर्म तथा दोष=राग, द्वेष मोह रूपी अज्ञान का स्वरूप बता दिया है, इस वर्त्तमान

सूत्र में फल का लक्षण बताया है कि जब मनुष्य राग, द्वेष, मोह आदि मिथ्याज्ञान से युक्त हुआ पाप-पुण्य कर्मों को करता है तो परिणाम रूप में उसे सुख-दुःख रूपी भोग की अनुभूति होती है वह फल कहलाता है। यहाँ एक बात जाननी चाहिए कि सभी कर्मों का फल तत्काल या इसी जन्म में मिल जाये यह आवश्यक नहीं है, जिन कर्मों का फल नहीं मिलता है वे अगले जन्म में अवश्य मिलते हैं, किसी भी कर्म के फल से मनुष्य बच नहीं सकता संसार में ऐसा देखा जाता है कि किन्हीं बुरे कर्म करने वालों को इस जन्म में दुःख कष्ट नहीं होता है और बिना कष्ट, दुःख, रोग के मर जाते हैं और कुछ अच्छे कर्म करने वाले रोगी, कष्ट, दुःखों का अनुभव करके मरते हैं इससे कुछ लोगों को संशय हो जाता है कि कर्मों का फल मिलता भी है या नहीं ? भगवान है या नहीं ?

भूमिका : आगे के सूत्र से शास्त्रकार **'दुःख'** का लक्षण बताते हैं-

बाधनालक्षणं दुःखम्।। २१।।

शब्दार्थ : (बाधनालक्षणम्) जो बाधास्वरूप है, जो प्रतिकूल अनुभूति है **(दुःखम्)** वह दुःख है।

भावार्थ : बाधना शब्द का अर्थ है प्रतिकूल अनुभूति होना। बाधना, पीड़ा, ताप, चिन्ता, कष्ट, दुःख ये सभी शब्द एक ही अर्थ को बताने वाले हैं। मनुष्य कितनी धन-सम्पत्ति, साधन-सुविधाओं को क्यों न प्राप्त कर ले किन्तु जीवन पथ पर प्रतिकूलताएं, बाधाएं, कष्ट, दुःख आ ही जाते हैं। शास्त्रकारों ने बताया कि भौतिक सुखों के पीछे दुःख

छिपे रहते हैं। पूर्ण रूप से कोई व्यक्ति दुःखों से बच नहीं सकता, जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को हो जाता है तो वह भोग्य पदार्थों को दुःख मिश्रित मानकर उनसे खिन्न, विरक्त हो जाता है, उनके प्रति राग-आकर्षण नहीं रहता है, परिणाम स्वरूप दुःखों से छूटने की भावना प्रबल हो जाती है और वह अध्यात्म मार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। कालान्तर में आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष-अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जानने योग्य विषयों में दुःख को भी सम्मिलित किया गया है।

भूमिका : जानने योग्य प्रमेयों में अन्तिम **'अपवर्ग'** नामक प्रमेय का लक्षण बताते हैं कि-

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।। २२।।

शब्दार्थ : **(तद्)** उस दुःख से **(अत्यन्त)** पूर्ण रूप से **(विमोक्षः)** छूट जाना **(अपवर्ग)** मोक्ष कहलाता है।

भावार्थ : जानने योग्य विषयों के क्रम में अन्तिम विषय है अपवर्ग। अपवर्ग का सामान्य अर्थ है दुःखों से पूर्ण रूप से छूट जाना। अपवर्ग जीव की वह स्थिति है जिसमें वह शरीरधारी नहीं रहता है क्योंकि शरीर के होते हुए ही मनुष्य दुःखी होता है, शरीर न हो तो दुःख भी नहीं होते हैं।

जब तक आत्मा, परमात्मा आदि आध्यात्मिक विषयों में मिथ्याज्ञान बना रहता है तब तक मनुष्य संसार में विभिन्न प्रकार की योनियां प्राप्त करता रहता है और सुख-दुःख की अनुभूति करता रहता है। इस

दुःख से बचने के लिए विशेष ज्ञान प्राप्त करना होता है और वह ज्ञान ईश्वर का प्रत्यक्ष करके, उससे ही प्राप्त किया जा सकता है, ईश्वर की प्राप्ति समाधि की स्थिति में होती है और समाधि, मन, इन्द्रियों को रोककर एकाग्र होने पर लगती है, मन, इन्द्रियों पर नियन्त्रण शान्त, एकान्त स्थान पर आसन लगाकर, प्राणायाम करके, जप के माध्यम से ईश्वर का ध्यान करने पर होता है। उस स्थिति में केवल ईश्वर के आनन्द की अनुभूति होती है। अपवर्ग के विषय में भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय दर्शन में इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या की है, वहाँ पर पढ़नी चाहिए।

भूमिका-पहले सूत्र में बताए गये प्रमाण का तीन से आठ सूत्रों में लक्षण निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया, पश्चात् ९वें सूत्र से २२वें सूत्र तक प्रमेयों का लक्षण निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया अब तीसरे पदार्थ **'संशय'** का लक्षण सूत्रकार निम्न सूत्र में करते हैं-

समान-अनेक-धर्मोपपत्तेः-विप्रतिपत्तेः-उपलब्धि-अनुपलब्धि-अव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।। २३।।

शब्दार्थ : (समानानेकधर्मोपपत्तेः) समान धर्मों की उपपत्ति (स्थिति) से, तथा अनेक धर्मों की स्थिति से, **(विप्रतिपत्तेः)** विप्रतिपत्ति से=विरुद्ध धर्मों की स्थिति से, **(उपलब्धि-अनुपलब्धि-अव्यवस्थातः)** उपलब्धि की अव्यवस्था अर्थात् अनियम से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष ज्ञान की अपेक्षा रहते हुए, जो विमर्श=द्विकोटिक ज्ञान होता है, वह **(संशयः)** संशय कहा जाता है।

भावार्थ : इस दर्शन में जानने योग्य विषयों में क्रम से तीसरे विषय संशय का लक्षण करते हैं। संशय का अर्थ है- एक ही वस्तु में दो विरूद्ध धर्मों-गुणों का-दो विरोधी ज्ञानों का होना। यह संशय तभी उत्पन्न होता है जब तक विशेष ज्ञान की अपेक्षा हो। यह संशय पाँच स्थितियों के उत्पन्न होने पर ही उत्पन्न होता है।

(१) समानधर्मोपपत्ति - सामने स्थित किसी एक वस्तु में ऐसे गुण दिखाई देना जो दो वस्तुओं में एक समान होते हैं। यथा अन्धेरे में किसी किनारे पर एक चार फीट ऊँची वस्तु दिखाई दे रही है, उसमें किसी बैठे हुए मनुष्य तथा कपड़े से ढकी मोटर बाईक दोनों का समान ज्ञान हो रहा है। किन्तु न तो मनुष्य के हाथ-पांव दिखाई दे रहे हैं, न बाईक के हैन्डल पहिए आदि। दोनों में से किसी एक का विशेष ज्ञान हो जाये तो उसका संशय नष्ट हो जाये। यह संशयात्मक ज्ञान दो वस्तुओं के समान धर्म की जानकारी के कारण होता है। इसलिए इसे समानधर्मोपपत्ति कहते हैं।

(२) अनेक धर्मोपपत्ति - अनेक शब्द से अर्थ कोई वस्तु का ग्रहण करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु में कुछ गुण अन्य वस्तुओं के समान पाये जाते हैं और कुछ गुण अन्य वस्तुओं से भिन्न भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए- पृथिवी में द्रव्यत्व धर्म है यह द्रव्यत्व धर्म अन्य धर्मियों जल, तेज, वायु आदि वस्तुओं में पाया जाता है इसलिए जल, तेज आदि पृथिवी के समान जातीय धर्मी है। पृथिवी के असमान जातीय धर्मी गुण है क्योंकि गुण में द्रव्यत्व धर्म नहीं होता है। पृथिवी में गन्ध का होना धर्म विशेष धर्म है जो समान, असमान सभी धर्मियों

से उसको अलग बनाये रखता है। इसलिए पृथिवी में गन्ध धर्म, अनेक (विशेष) धर्म कहलाता है क्योंकि पृथिवी का यह गन्ध धर्म अनेकों समान और असमान जातियों से उसे अलग बनाये रखता है। पृथिवी में इस विशेष गन्ध धर्म की विद्यमानता पृथिवी के विषय में ही सन्देह उत्पन्न करती है कि पृथिवी को द्रव्य माना जाये या गुण या कर्म ? क्योंकि गन्ध गुण का अभाव अन्य द्रव्यों-गुणों व कर्मों तीनों में है। इस प्रकार किसी धर्मी का असाधारण धर्म उसकी किसी स्थिति के विषय में संशय उत्पन्न कर देता है। यह उसी स्थिति में होता है जब उस धर्मी के विषय में विशेष जानकारी की अपेक्षा हो।

(३) विप्रतिपत्ति - 'वि' का अर्थ है विरोधी, प्रतिपत्ति का अर्थ है-ज्ञान। एक ही वस्तु के विषय में विरोधी ज्ञान होना विप्रतिपत्ति कहलाता है। यह विप्रतिपत्ति संशय को उत्पन्न करती है जैसे कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा/परमात्मा है, कुछ कहते हैं कि आत्मा/परमात्मा नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक वस्तु के विषय में दो विरोधी ज्ञान किसी तीसरे व्यक्ति के समक्ष आते हैं तो उसे संशय होता है कि आत्मा है या नहीं है। क्योंकि 'होना' या 'न होना' दो विरोधी धर्म किस एक वस्तु में रहना असम्भव है। इसलिए एक ही वस्तु के विषय में एक धर्म का निश्चयात्मक हेतु जब तक उपलब्ध नहीं होता तब तक उस वस्तु के विषय में संशय की स्थिति बनी रहती है। इसे ही विप्रतिपत्ति नामक संशय कहते हैं।

(४) उपलब्धि अव्यवस्था - कभी कोई वस्तु न होते हुए भी दिखाई देती है जैसे कि मृगमरीचिका का पानी और कभी वस्तु होते हुए

दिखाई देती है जैसे नदी, तालाब, झील का पानी। कालान्तर में दूर पानी दिखाई देता है तो मन में यह संशय होता है कि यह सामने जो पानी दिखाई दे रहा है यह मृगमरीचिका के समान न होते हुए दिखाई दे रहा है या नदी, तालाब, झील के समान होते हुए दिखाई दे रहा है ? अर्थात् होते हुए और न होते हुए भी दोनों प्रकार की स्थिति में वस्तु का दिखाई देना उपलब्धि विषयक अव्यवस्था कहलाती है। इस स्थिति में जब तक निश्चय कराने वाला विशेष हेतु उपलब्ध नहीं होता है तब तक यह संशय बना रहता है।

(५) अनुपलब्धि अव्यवस्था – कभी ऐसा होता है कि कोई वस्तु होते हुए भी दिखाई नहीं देती है जैसे-स्कूटर की चाभी को अन्जाने घर के किसी गुप्त स्थान में रख देने पर नहीं मिलती है और कभी चाबी को स्कूटर में ही लगी छोड़ देने पर घर में न होने पर नहीं मिलती है। दोनों प्रकार की स्थिति बनती है कालान्तर में कभी घर में चाबी नहीं मिलती है तो यह संशय होता है कि यह चाबी घर में होती हुई नहीं मिल रही है या नहीं होती हुई नहीं मिल रही है। यह होते हुए और न होते हुए दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि **'अनुपलब्धि अव्यवस्था'** का स्वरूप है।

भूमिका : अवसर प्राप्त **'प्रयोजन'** का स्वरूप वा लक्षण बताते हैं-

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्।। २४।।

शब्दार्थ : **(यम)** जिस **(अर्थं)** विषय को **(अधिकृत्य)** लक्ष्य बनाकर (कोई व्यक्ति) **(प्रवर्त्तते)** प्रवृत्त होता है **(तत्)** वह **(प्रयोजनम्)** प्रयोजन कहा जाता है।

भावार्थ : प्रत्येक व्यक्ति दुःख, हानि, भय, पीड़ा, बन्धनादि से बचना चाहता है और सुख, लाभ, स्वतन्त्रता शांति आदि को प्राप्त करना चाहता है अर्थात् प्रतिकूल को छोड़ना तथा अनुकूल को पकड़ना यह इच्छा, प्रवृत्ति अर्थ कहलाती है, इसी का नाम प्रयोजन है। इसी लक्ष्य को बनाकर मनुष्य पुरूषार्थ करता है, दौड़ता भागता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सुख की प्राप्ति, दुःख का नाश लक्ष्य है और वही प्रयोजन कहलाता है।

भूमिका : क्रम से चले आ रहे विषयों में अब आगे **'दृष्टान्त'** का स्वरूप बताते हैं-

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।। २५।।

शब्दार्थ : (लौकिकपरीक्षकाणाम्) लौकिक और परीक्षकों की **(यस्मिन्)** जिस **(अर्थे)** अर्थ में-विषय में **(बुद्धिसाम्यम्)** बुद्धि अर्थात् जानकारी समान है **(सः)** वह अर्थ/विषय **(दृष्टान्तः)** दृष्टान्त कहा जाता है।

भावार्थ : लौकिक शब्द का अर्थ है-समाज में रहने वाले सामान्य व्यक्ति जिनको शास्त्रों का ज्ञान नहीं होता, जिन्होंने सामान्य ज्ञान प्राप्त किया होता है विशेष नहीं और परीक्षक व्यक्ति वे कहलाते हैं जिन्होंने शास्त्र आदि का अध्ययन करके विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और प्रमाण-तर्क-हेतु आदि के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करने में समर्थ होते हैं। जिस विषय को लौकिक/सामान्य व्यक्ति तथा परीक्षक=विद्वान् व्यक्ति दोनों समान रूप से स्वीकार करें वह दृष्टान्त कोटि में आता है। इस दृष्टान्त का ही वाद में प्रयोग किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

भूमिका : यथाक्रम से अब आगामी सूत्र से **'सिद्धान्त'** का लक्षण बताते हैं-

तन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-संस्थितिः सिद्धान्तः।। २६।।

शब्दार्थ : उस सिद्धान्त के तीन भेद हैं। (**तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः**) तन्त्रसंस्थिति, अधिकरणसंस्थिति और अभ्युपगमसंस्थिति (**सिद्धान्तः**) सिद्धान्त है।

भावार्थ : सिद्धान्त शब्द दो शब्दों के समास से बना है-सिद्ध और अन्त। सिद्ध शब्द का अर्थ है-यह इस प्रकार का है, इस प्रकार स्वीकार किया गया है, इस रूप में जाना गया है। और अन्त शब्द का अर्थ है पूर्ण तथा वैसा होने का निश्चय- यह वस्तु-पदार्थ इस प्रकार की हो सकती है अन्य प्रकार की नहीं, यह सिद्धान्त का स्वरूप है। यही भाव सूत्र में संस्थिति शब्द से निकलता है। संस्थिति तीन प्रकार की होती है। (१) तन्त्रसंस्थिति (२) अधिकरणसंस्थिति (३) अभ्युपगमसंस्थिति। इन संस्थितियों का विस्तार से वर्णन सूत्रकार आगे के सूत्रों में करेंगे।

भूमिका : गत सूत्र में बताया गया सिद्धान्त=संस्थिति तीन प्रकार की होती है (१) तन्त्र संस्थिति (२) अधिकरण संस्थिति (३) अभ्युपगम संस्थिति। इन तीन प्रकार के सिद्धान्तों में पहले प्रकार के "तन्त्रसंस्थिति" के भी दो भेद होते हैं- सर्वतन्त्र संस्थिति और प्रतितन्त्र संस्थिति। इस प्रकार सूत्रकार के अनुसार सिद्धान्त के चार भेद बताये जाते हैं

स चतुर्विधः सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-संस्थिति-अर्थान्तरभावात्।। २७।।

शब्दार्थ : (सः) वह सिद्धान्त **(चतुर्विधः)** चार प्रकार का है, **(सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यऽर्थान्तरभावात्)** सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम संस्थितियों के **(अर्थान्तरभावात्)** परस्पर भिन्न होने से।

भावार्थ : पिछले सूत्र में बताये गये सिद्धान्त के चार भेद हैं जिनका वर्णन आगे के सूत्रों में स्वयं सूत्रकार करेंगे।

भूमिका : प्रथम **"सर्वतन्त्र सिद्धान्त"** का स्वरूप सूत्रकार निम्न प्रकार से बताते हैं-

सर्वतन्त्र-अविरुद्धः-तन्त्रे-अधिकृतः-अर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः।। २८।।

शब्दार्थ : (सर्वतन्त्राविरुद्धः) सब शास्त्रों में अविरूद्ध अर्थात् समान रूप से स्वीकृत **(तन्त्रे)** किसी एक शास्त्र में **(अधिकृतः)** अधिकृत=विशेष रूप से वर्णित **(अर्थः)** विषय **(सर्वतन्त्रसिद्धान्तः)** सर्वतन्त्रसिद्धान्त माना जाता है।

भावार्थ : किसी विषय का किसी शास्त्र में विशेष रूप से वर्णन किया गया हो और उस विषय को अन्य सभी शास्त्र बिना किसी प्रकार के विरोध के स्वीकार करते हों, उस सिद्धान्त को सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे कि घ्राण, रसन, चक्षु आदि इन्द्रियां हैं, गन्धादि इन्द्रियों के विषय हैं। पृथिवी आदि पाँच भूत हैं, किसी वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किया जाता है।

भूमिका : अगले सूत्र से सूत्रकार सिद्धान्त के दूसरे भेद **"प्रतितन्त्र सिद्धान्त"** का लक्षण करते हैं-

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।। २६।।

शब्दार्थ : (समानतन्त्रसिद्धः) समानशास्त्र में (सिद्धान्तरुप से जो विषय) सिद्ध-निश्चित-स्वीकृत है, **(परतन्त्रासिद्धः)** अन्य शास्त्र में स्वीकृत नहीं है, वह **(प्रतितन्त्रसिद्धान्तः)** प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहलाता है।

भावार्थ : किसी एक शास्त्र में कोई विषय मुख्य रूप से वर्णित किया गया है और उसको उसी रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु अन्य शास्त्रों में उस विषय का वर्णन नहीं है अथवा उस रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, किसी अन्य प्रकार से स्वीकार किया गया है, ऐसे सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहे जाते हैं।

जैसे सांख्य दर्शन की मान्यता है कि असत् कभी सद्भाव में नहीं आता, जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता है। समस्त आत्माएं समान हैं, भेद वाली नहीं हैं इत्यादि। इसके विपरीत न्याय, वैशेषिक की मान्यता यह है कि असत् की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न वस्तु का नाश होता है। चेतन आत्माएं अपने राग-द्वेषादि गुणों से विशेष हैं, भिन्न हैं। शास्त्रों की ये भिन्न मान्यताएं स्थूल रूप से विरोधी दिखाई देती हैं किन्तु हैं नहीं। शास्त्रों का, विषयों का प्रतिपादन अपनी अपनी सीमाओं को बनाकर किया गया है तथा कहने की शैली भिन्न है, वहाँ परस्पर विरोध नहीं है, विरोधाभास है।

भूमिका : आगे के सूत्र में सूत्रकार तीसरे **"अधिकरण सिद्धान्त"** का लक्षण करते हैं-

यत्सिद्धौ-अन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः।। ३०।।

शब्दार्थ : (यत्सिद्धौ) जिस अर्थ की सिद्धि हो जाने पर **(अन्यप्रकरणसिद्धिः)** दूसरे प्रकरण में साथ लगे अर्थों की जो अनायास सिद्धि हो जाती है, **(सः)** वह **(अधिकरणसिद्धान्तः)** अधिकरण सिद्धान्त माना जाता है।

भावार्थ : किसी एक मुख्य प्रसंग-विषय के सिद्ध हो जाने पर उससे सम्बद्ध अन्य विषय स्वतः सिद्ध हो जाते है, इस प्रकार उन विषयों जिन पर विचार नहीं किया गया है स्वतः सिद्ध हो जाना अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। जैसे कि आत्मा की सिद्धि का प्रसंग चल रहा है-आत्मा चेतन है, शरीर इन्द्रियों से भिन्न है, विषयों का द्रष्टा है, भोग विषयों का स्मरण करने वाला है इत्यादि। यहाँ आत्मा के स्वरूप की सिद्धि पर विचार चल रहा था, उसकी सिद्धि हो जाने पर अन्य विषय स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। यथा-इन्द्रियां अनेक हैं, जो अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हैं, वे स्वयं ज्ञाता नहीं हैं, साधन हैं इत्यादि। यहाँ आत्मतत्त्व की सिद्धि होने पर अन्य सम्बन्धित मान्यताओं की सिद्धि स्वतः हो जाती है। अतः इस स्थिति को अधिकरण सिद्धान्त कहा जाता है।

भूमिका : आगे के सूत्र में सूत्रकार चौथे **"अभ्युपगम सिद्धान्त"** का स्वरूप बताते हैं-

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।। ३१।।

शब्दार्थ : (अपरीक्षिताभ्युपगमात्) अपरीक्षित अर्थ का स्वीकार कर लेने से, **(तद्विशेषपरीक्षणम्)** उस विषय की विशेष परीक्षा के निमित्त (**अभ्युपगमसिद्धान्तः**) अभ्युपगम सिद्धान्त माना जाता है।

भावार्थ : किसी एक विषय का निश्चय करने के लिए चर्चा चल रही होती है उसी बीच चर्चित विषय के किसी विशेष अंश, भाग को बिना परीक्षा किये हुए ही कुछ काल के लिए स्वीकार कर लिया जाता है तो ऐसा स्वीकार कर लेना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।

उदाहरण के लिए चर्चा चल रही है शब्द विषय में। न्याय, वैशेषिक की मान्यता यह है कि शब्द गुण है और वह अनित्य है। विपक्षी ऐसा नहीं मानता है, वह शब्द को द्रव्य तथा नित्य मानता है। ऐसी स्थिति में वादी कहता है कि चलो थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि शब्द द्रव्य है। अब शब्द द्रव्य है ऐसा तो मान लिया किन्तु इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि वह शब्द नित्य है या अनित्य। ऐसे अवसरों पर शब्द के द्रव्यत्व को स्वीकार कर लेना, जो अभी तक अपरीक्षित है, अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। वादी का ऐसा स्वीकार कर लेना अपने को अधिक बुद्धिमान मानने तथा विरोधी की बुद्धि को कम बताने की भावना को लेकर किया जाता है।

भूमिका : प्रथम सूत्र में जानने योग्य सोलह पदार्थों में से अब क्रम से प्राप्त सातवें **'अवयव'** नामक पदार्थ का स्वरूप बताते हैं–

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।। ३२ ।।

शब्दार्थ : (प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन **(ये पाँच) (अवयवाः)** अवयव कहे जाते हैं।

भावार्थ : किसी वस्तु की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग किया जाता है और उस प्रयोग में पाँच वाक्यों की सहायता ली जाती है। उन **'पाँच वाक्य समूह'** को अवयव कहा जाता है। ये अवयव प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे के सूत्रों में किया जायेगा।

अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है। पहला **स्वार्थानुमान** दूसरा **परार्थानुमान**। अपने लिए किसी विषय का यथार्थ ज्ञान करने हेतु मन में साधक हेतु, उदाहरण आदि का चिन्तन करके निर्णय कर सकते हैं। किन्तु दूसरे व्यक्ति के लिए अनुमान का प्रयोग किया जाता है तो वहाँ प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

भूमिका : किसी वस्तु की सिद्धि करने में जिस अनुमान प्रमाण का प्रयोग किया जाता है, वह पाँच वाक्यों का समूह है, जिसमें पहला वाक्य है- **'प्रतिज्ञा'**। इसका लक्षण सूत्रकार कर रहे हैं-

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।। ३३।।

शब्दार्थ : (**साध्यनिर्देशः**) साध्य का निर्देश-कथन करना (**प्रतिज्ञा**) प्रतिज्ञा नामक प्रथम अवयव है।

भावार्थ : जिस विषय में सन्देह बना हुआ होता है, निर्णय नहीं होता है उस सन्देह को दूर करने के लिए सर्वप्रथम जिस वाक्य का कथन किया जाता है उसको प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे कि आत्मा नित्य है या अनित्य ? यह आत्मा के नित्यत्व-अनित्यत्व के विषय में सन्देह है। अनित्यवादी अपना पक्ष पाँच अवयव वाले वाक्यों से प्रस्तुत करता है।

(१) प्रतिज्ञा–शब्द अनित्य है।

(२) हेतु–उत्पत्तिधर्मकत्वात्=उत्पत्ति धर्म वाला होने से, व्याप्ति-(जो-जो उत्पन्न होता है वह-वह अनित्य होता है)

(३) उदाहरण–घटवत्- घड़े के समान।

(४) उपनय–"तथा शब्दः"- शब्द घड़े के समान ही उत्पन्न होने वाला है।

(५) निगमन–"तस्मात् तथा"- घड़े समान उत्पन्न होने वाला होने से शब्द अनित्य है।

भूमिका : प्रतिज्ञा का लक्षण करने के बाद अब क्रम प्राप्त अवयव **'हेतु'** का स्वरूप बताते हैं-

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः।। ३४।।

शब्दार्थ : (**उदाहरणसाधर्म्यात्**) उदाहरण के साधर्म्य से (**साध्य-साधनम्**) साध्य का जो साधन होता है, वह (**हेतुः**) हेतु नामक अवयव कहा जाता है।

भावार्थ : अनुमान प्रमाण के माध्यम से किसी वस्तु के स्वरूप की निश्चितता सिद्ध करने के लिए पाँच अवयवों का प्रयोग किया जाता है। उसमें दूसरा अवयव 'हेतु' है। समान धर्म वाले उदाहरण की अनुकूलता से जो धर्म-गुण साध्य को सिद्ध करने वाला होता है वह धर्म 'हेतु' नाम से कहा जाता है।

उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्य दो प्रकार का होता है। इस प्रस्तुत सूत्र में उदाहरण के साधर्म्य से हेतु का स्वरूप बतलाया है। यहाँ पर

शब्द पक्ष है और उसमें अनित्य धर्म साध्य है। अब देखना है कि वह कौन सा धर्म है जो शब्द तथा उदाहरण में प्रस्तुत पदार्थ दोनों में समान रूप से विद्यमान है। वह धर्म है 'उत्पत्तिधर्मकत्व'। ऐसे उत्पत्ति धर्म वाले पदार्थ घट का कथन उदाहरण अवयव के रूप में होता है।

यहाँ व्याप्ति को भी समझना चाहिए **"जो जो उत्पत्तिधर्म वाला होता है वह वह अनित्य होता है"**। इस व्याप्ति के दर्शाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेतु का सम्बन्ध केवल अनित्यत्व के अधिकरण पदार्थों के साथ रहता है।

भूमिका : जैसे उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है, वैसे ही **'उदाहरण के वैधर्म्य से'** भी साध्य का साधन हेतु होता है-

तथा वैधर्म्यात्॥ ३५॥

शब्दार्थ : **(तथा)** उसी प्रकार उदाहरण के **(वैधर्म्यात्)** वैधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है।

भावार्थ : जैसे उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है वैसे ही उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है। प्रतिज्ञा-शब्द अनित्य है। हेतु-उत्पत्ति धर्मवाला होने से। **उदाहरण के साधर्म्य से** हेतु की व्याप्ति होगी **"जो-जो उत्पत्ति धर्म वाला होता है, वह-वह अनित्य होता है"**। इस व्याप्ति को अन्वय व्याप्ति कहते हैं। **उदाहरण वैधर्म्य से** व्याप्ति का स्वरूप बनेगा- **"जो-जो उत्पत्ति धर्मक नहीं होता है वह-वह अनित्य नहीं होता है"**। इस व्याप्ति का नाम

"व्यतिरेक व्याप्ति" है। अन्वय व्याप्ति में उदाहरण होगा 'घट'। व्यतिरेक व्याप्ति में उदाहरण होगा 'आत्मा'। **'अन्वय व्याप्ति'** में उपनय होगा- 'वैसा ही यह शब्द है'। अर्थात् जैसे घट उत्पत्ति धर्म वाला है वैसा ही यह शब्द है। व्यतिरेक व्याप्ति में उपनय होगा- "यह शब्द वैसा आत्मा जैसा नहीं है अर्थात् आत्मा के समान शब्द अनुत्पत्ति धर्मवाला नहीं है"।

भूमिका : पाँच अवयवों में अब **'उदाहरण'** नामक अवयव का स्वरूप सूत्रकार बताते हैं-

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।। ३६।।

शब्दार्थ : (साध्यसाधर्म्यात्) साध्य के साधर्म्य से **(तद्धर्मभावी)** उस अथवा उसके धर्म को हुआने वाला/प्रमाणित करने वाला **(दृष्टान्तः)** दृष्टान्त अर्थात् **(उदाहरणम्)** उदाहरण नामक अवयव है।

भावार्थ : अर्थात् हमें सिद्ध करना है कि शब्द अनित्य है, यह हमारी प्रतिज्ञा है। घड़े की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए कोई कारण जिसे हेतु-कारण कहते हैं, बताना पड़ता है जिससे यह सिद्ध हो जाये कि शब्द अनित्य है। हेतु-कारण को बताने के बाद कोई उदाहरण भी बताना पड़ता है जिससे यह पक्का हो जाये कि जैसे यह वस्तु अनित्य है वैसे ही शब्द भी अनित्य है। उदाहरण में अनित्य होने के कारण को सिद्ध किये जाने वाले साध्य में भी दिखाया जाता है। वह कारण-धर्म साध्य वस्तु और सिद्ध वस्तु दोनों में समान होना चाहिए,

जैसे उत्पन्न होना। जैसे घड़ा उत्पन्न होता है, कालान्तर में नष्ट हो जाता है वैसे ही उत्पन्न होना धर्म शब्द में भी है।

शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त के रूप में घड़ा रखा जाता है। यह घड़ा यहाँ पर उदाहरण बनता है अर्थात् दृष्टान्त ही उदाहरण होता है।

दृष्टान्त दो प्रकार का होता है तदनुसार उदाहरण भी दो प्रकार के होते हैं। साध्य-साधर्म्यात् और साध्य- वैधर्म्यात्। यहाँ साध्य-सिद्ध करने वाले पदार्थ के समान धर्म को दिखाकर दृष्टान्त दिया गया है। आगे के सूत्र में साध्य के वैधर्म्य-विपरीत धर्म को दिखाकर दृष्टान्त दिया जायेगा।

भूमिका : उदाहरण दो प्रकार के होते हैं (१) अन्वय व्याप्तिक (२) व्यतिरेक व्याप्ति। पूर्व सूत्र में पहला प्रकार बताया था आगामी सूत्र में दूसरा प्रकार बताया जा रहा है-

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।। ३७।।

शब्दार्थ : **(वा)** अथवा **(तद्विपर्याद्)** साध्य के वैपरीत्य/वैधर्म्य से (साध्य में उस धर्म को प्रमाणित न करने वाला) **(विपरीतम्)** विपरीत उदाहरण होता है।

भावार्थ : पिछले सूत्र से दृष्टान्त व उदाहरण शब्दों की अनुवृत्ति यहाँ लाकर पूरा सूत्र बनेगा- **"साध्यवैधर्म्यात् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त अपि उदाहरणम्"**। यहाँ पर पूर्व सूत्र में शब्द के अनित्यत्व धर्म को

सिद्ध करने के लिए घड़े का उदाहरण दिया गया था। अर्थात् जैसे घड़ा उत्पन्न होकर कालान्तर में नष्ट हो जाता है वैसा ही उत्पन्न होने वाला धर्म शब्द में भी है, घड़े के समान शब्द भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है इसलिए शब्द अनित्य है नित्य नहीं।

अब यहाँ इस सूत्र में विपरीत दृष्टान्त देकर भी शब्द को अनित्य सिद्ध किया जा रहा है। आत्मा नित्य है क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता है, जो उत्पन्न नहीं होता है वह नष्ट भी नहीं होता है। यह विशेषता शब्द में नहीं है। शब्द यदि उत्पन्न नहीं होता तो आत्मा के समान नित्य होता किन्तु शब्द तो उत्पन्न होता है इसलिए शब्द आत्मा के समान नित्य नहीं है, अनित्य है। पूर्व सूत्र में घड़े का उत्पन्न होना तथा नष्ट होना दोनों धर्मों को साध्य-शब्द में दिखाकर उसे अनित्य सिद्ध किया गया था। इस वर्तमान सूत्र में आत्मा का उत्पन्न न होना और नष्ट न होना इन दोनों धर्मों को शब्द में न होने की स्थिति को दिखाकर शब्द को अनित्य सिद्ध किया है।

भूमिका : अवयवों के क्रम में आगे सूत्रकार **'उपनय'** नामक अवयव का लक्षण बताते हैं-

उदाहरण-अपेक्षः-तथा-इति-उपसंहारः न तथा-इति वा साध्यस्योपनयः।। ३८।।

शब्दार्थ : (उदाहरणापेक्षः) उदाहरण की अपेक्षा करता हुआ, उदाहरण के अधीन, उदाहरण के अनुसार **(तथा)** वैसा है **(इति)** इस

प्रकार (उपसंहारः) उपसंहार का कथन करना (वा) अथवा वैसा (न) नही है इस प्रकार उपसंहार करना (साध्यस्य) साध्य का (साध्याधिकरण-पक्ष) का, (उपनयः) उपनय नामक चौथा अवयव है।

भावार्थ : इस सूत्र में उपनय नामक चौथे अवयव का वर्णन किया गया है। वाद में तीसरा अवयव उदाहरण होता है। उदाहरण के रूप में रखे गये पदार्थ के समान गुणों को साध्य में उपसंहार के रूप में दर्शाना **'उपनय'** कहलाता है।

(१) जैसे घड़ा उत्पन्न होने वाला है वैसा ही यह शब्द भी उत्पन्न होने वाला है। यहाँ घड़े तथा शब्द दोनों में समान धर्म दिखाया गया है।

(२) दूसरे प्रकार से भी उपनय का प्रयोग होता है। जैसे आत्मा उत्पन्न न होने वाला और नष्ट न होने वाला है वैसा धर्म 'शब्द' में नहीं है। यहाँ 'आत्मा व शब्द' के धर्मों में असमानता दिखाई गई है।

भूमिका : उपनय के बाद सूत्रकार अन्तिम अवयव **'निगमन'** का स्वरूप बताते हैं-

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।। ३९।।

शब्दार्थ : (हेत्वपदेशात्) हेतु के कथन से, अर्थात् हेतुकथनपूर्वक (प्रतिज्ञायाः) प्रतिज्ञा को (पुनः) फिर (वचनम्) कहना (निगमनम्) निगमन नामक पाँचवाँ अन्तिम अवयव है।

भावार्थ : जो बातें वाद के प्रारम्भिक वाक्यों से कही गई थीं, उनको पुनः दुहराकर अपनी प्रतिज्ञा को फिर से कहना निगमन कहलाता है।

प्रतिज्ञा थी-"शब्दः अनित्यः"। शब्द अनित्य है।

हेतु था-"उत्पत्तिधर्मकत्वात्"। उत्पत्ति धर्मवाला होने से।

उदाहरण था-'घटवत्' घड़े के समान।

उपनय था-"तथा चायम्" घड़े के समान ही यह शब्द है।

निगमन होगा-"तस्मात् तथा" घड़े के समान उत्पत्ति धर्मवाला होने से शब्द अनित्य है।

वैधर्म्य से कहे गये उदाहरण के अनुसार पंचावयव बनेगा-

प्रतिज्ञा-शब्दः अनित्यः। शब्द अनित्य है।

हेतु-उत्पत्तिधर्मकत्वात्। उत्पत्ति धर्मवाला होने से।

उदाहरण-यथा आत्मा। जैसे आत्मा।

उपनय-न च अयं शब्दः तथा अनुत्पत्तिधर्मकः। वैसा यह शब्द अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है।

निगमन-तस्मात् अनुत्पत्तिधर्मकत्व-अभावात् अनित्यः शब्दः। अनुत्पत्तिधर्मक न होने से शब्द अनित्य है।

भूमिका : प्रथम सूत्र में आये ज्ञेय पदार्थों में से क्रम प्राप्त आठवें पदार्थ **'तर्क'** का लक्षण करते हैं-

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।। ४०।।

शब्दार्थ : (अविज्ञाततत्त्वे) जिस वस्तु की यथार्थता को अभी तक नहीं जाना है, ऐसे **(अर्थे)** वस्तु के विषय में **(कारणोपपत्तितः)** कारण-साधक हेतु की सिद्धि-उपस्थिति से **(तत्त्वज्ञानार्थम्)** तत्त्वज्ञान के

लिए-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए **(ऊहः)** ऊहा करना **(तर्कः)** तर्क का स्वरूप है।

भावार्थ : मनुष्य जिस विषय-वस्तु को यथार्थ रूप से नहीं जानता है उसके विषय में जानने की इच्छा करता है। जानने योग्य विषय में जब दो धर्म परस्पर विरुद्ध प्रतीत हो रहे होते हैं तो विचार करता है कि क्या यह वस्तु इस प्रकार की मानी जाये या उस प्रकार की ? क्योंकि उस वस्तु में दो प्रकार के गुण/धर्म दिखाई देते हैं। वह गम्भीरता से उस वस्तु के दोनों विरुद्ध धर्मों के विषय में गम्भीर चिन्तन करता है और निर्णय करने का प्रयास करता है।

उदाहरण के लिए आत्मा के विषय में यह विचार होता है कि **"आत्मा उत्पन्न होने वाला और मरने वाला है"** या **"न उत्पन्न होने वाला और न मरने वाला है"**। वह चिन्तन करता है कि शरीर तो उत्पन्न होता है, मरता है, निश्चित है। परन्तु यह शरीर रूपी साधन/फल मिला है, वह इसी जन्म में किये कर्मों का फल तो नहीं है, बिना कर्म किये शरीर रूपी फल का मिल जाना भी ठीक नहीं लगता है, इसलिए आत्मा को अनुत्पत्ति धर्म वाला नित्य मानना ही उचित है। वर्तमान में जो शरीर है उसके बनने से पूर्व भी आत्मा का अस्तित्व था। उसने पूर्व शरीर में जो-जो कर्म किये थे, उनका वर्तमान में इस शरीर इन्द्रिय आदि के रूप में फल मिला है। इस प्रकार की ऊहा, तर्क का प्रयोग करने वाले जिज्ञासु को यह स्पष्ट हो जाता है कि दो विरोधी विचारधारा में किस पक्ष में प्रमाण, हेतु अधिक हैं और वह उस पक्ष को स्वीकार कर लेता है और दूसरे पक्ष को छोड़ देता है।

भूमिका : तर्क नामक ज्ञेय पदार्थ का निरूपण करने के बाद इस प्रथम आह्निक के अन्तिम सूत्र द्वारा सूत्रकार **'निर्णय'** नामक पदार्थ का स्वरूप बताते हैं-

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।। ४१।।

शब्दार्थ : **(विमृश्य)** संशयपूर्वक तर्क द्वारा विचार करने के बाद **(पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्)** पक्ष और प्रतिपक्ष के प्रयोग से **(अर्थावधारणम्)** किसी एक अर्थ का निर्धारण करना **(निर्णयः)** निर्णय कहा जाता है।

भावार्थ : एक वस्तु (धर्मी) में दो विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर संशय होता है कि इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप क्या है ? ऊहा-तर्क का प्रयोग करके दोनों ओर से हेतु (कारणों) की खोज होती है। दोनों पक्षों में अपने-अपने हेतुओं को प्रस्तुत करके अपने पक्ष की सिद्धि तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन किया जाता है। उन दोनों में से जिस किसी एक पक्ष का खण्डन हो जाने पर दूसरा पक्ष जो बचता है उससे वस्तु-अर्थ का निर्धारण-निश्चय हो जाता है। इस निश्चय को ही निर्णय कहा जाता है।

।। इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।।

।। अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

भूमिका : प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में सोलह पदार्थों में से नौ पदार्थों के लक्षण/स्वरूप तथा विभाग बताये गये थे। अब दूसरे आह्निक में दसवें पदार्थ **'वाद'** का स्वरूप/लक्षण बताया जा रहा है-

प्रमाण-तर्क-साधन-उपालम्भः सिद्धान्त-अविरुद्धः
पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।। १।।

शब्दार्थ : **(प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः)** प्रमाण और तर्क से साधन तथा उपालम्भ-प्रतिषेध (जिस कथा में हो) **(सिद्धान्ताविरुद्धः)** सिद्धान्त के विरुद्ध कथन न हो, **(पञ्चावयवोपपन्नः)** प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त हो, **(पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः)** जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष को व्यवस्थानुसार स्वीकार किया गया हो, **'वाद'** उस कथा का नाम है।

भावार्थ : यहाँ इस सूत्र में वाद का स्वरूप बताया गया है। किसी वस्तु का निर्णय जब अनुमान प्रमाण से किया जाता है तो दोनों पक्ष परस्पर चर्चा करते हैं, वह चर्चा तीन प्रकार की होती है - वाद, जल्प और वितण्डा। यहाँ इस सूत्र में **'वाद'** नामक चर्चा का स्वरूप बताया गया है। वाद में तीन बातें- विशेषण होने अनिवार्य हैं।

(१) प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः - वाद में भाग लेने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पक्ष की स्थापना प्रमाण और तर्क के आधार पर करे और दूसरे के पक्ष का खण्डन भी तर्क और प्रमाण के साथ करे।

(२) **सिद्धान्ताविरुद्धः**-वादी अथवा प्रतिवादी ने अपनी जो मान्यता-सिद्धान्त स्वीकार किया है, चर्चा के रूप में प्रस्तुत किया है, उस सिद्धान्त के अनुकूल ही अपनी बात रखनी चाहिए, सिद्धान्त-मान्यता के विरूद्ध नहीं।

(३) **पञ्चावयवोपपन्नः**-अपने पक्ष की स्थापना तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन करने के लिए की जाने वाली चर्चा में अनुमान प्रमाण का आश्रय लिया जाता है। उस अनुमान प्रमाण में- प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयवों का प्रयोग करना चाहिए।

भूमिका : अब आगे के सूत्र में **'वाद'** के बाद **'जल्प'** का स्वरूप बताते हैं-

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।। २।।

शब्दार्थ : **(यथोक्तोपपन्नः)** जैसा कहा है-वाद कथा में-उससे उपपन्न-युक्त, तथा **(छलजातिनिग्रस्थानसाधनोपालम्भः)** छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा जिस कथा में स्वपक्ष का साधन (मण्डन) और परपक्ष का उपालम्भ (खण्डन) हो वह **(जल्पः)** जल्प नामक कथा है।

भावार्थ : इस सूत्र में पिछले सूत्र से **'वाद'** शब्द को छोड़कर शेष सभी पदों की अनुवृत्ति आ रही है। अर्थात् जैसे कि गत सूत्र में कहा गया था कि **'वाद'** में प्रमाण तथा तर्क से अपने पक्ष की सिद्धि तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन किया जाता है, साथ ही अपने स्थापित-स्वीकृत मन्तव्य-सिद्धान्त के विरुद्ध कोई बात नहीं की जाती है तथा पाँच

अवयवों का प्रयोग भी किया जाता है, ये तीन शर्तें-नियम 'जल्प' नामक चर्चा में भी अपेक्षित होते हैं इसके अतिरिक्त 'जल्प' की चर्चा में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग भी होता है। जल्प का प्रयोग प्रायः दूसरे के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए किया जाता है, अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए नहीं।

भूमिका : कथा=चर्चा के तीन विभाग बताये गये हैं। उनमें से वाद, जल्प के स्वरूप को बताने के बाद सूत्रकार अब **'वितण्डा'** का स्वरूप बताते हैं-

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।।३।।

शब्दार्थ : **(सः)** वह जल्प **(प्रतिपक्षस्थापनाहीनः)** प्रतिपक्ष की स्थापना से जब रहित होता है, तब **(वितण्डा)** वितण्डा कहा जाता है।

भावार्थ : जब किसी विषय पर परस्पर दोनों पक्ष-प्रतिपक्ष की चर्चा होती है तो प्रतिपक्षी-विरोधी अपने पक्ष की स्थापना ही नहीं करता है केवल पक्षी का खण्डन ही करता रहता है।

वास्तविकता यह है कि प्रतिपक्ष का कोई सिद्धान्त तो होता है किन्तु वह बोलकर प्रकट नहीं करता है-प्रतिज्ञा, हेतु आदि के माध्यम से स्थापित नहीं करता है, ऐसी चर्चा **'वितण्डा'** कहलाती है।

भूमिका : क्रम से प्राप्त १३वां पदार्थ **'हेत्वाभास'** है उसके विषय में सूत्रकार पाँच विभाग करके उसके लक्षण आगे के सूत्रों में करेंगे-

सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीता हेत्वाभासाः।। ४।।

शब्दार्थ : (सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः) सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत (ये पाँच प्रकार के) **(हेत्वाभासाः)** हेत्वाभास हैं।

भावार्थ : हेत्वाभास का अर्थ है जो वास्तव में हेतु नहीं है किन्तु हेतु के समान प्रतीत होता है। ये हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं - (१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) प्रकरणसम (४) साध्यसम (५) कालातीत। इन हेत्वाभासों का वर्णन आगे के सूत्रों में विस्तार से किया जायेगा।

भूमिका : पाँच प्रकार के हेत्वाभासों में प्रथम **'सव्यभिचार'** हेत्वाभास का स्वरूप बताते हैं-

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।। ५।।

शब्दार्थ : (अनैकान्तिकः) जो हेतु एकत्र व्यवस्थित न हो (अर्थात् पक्ष-विपक्ष दोनों जगह हो) वह **(सव्यभिचारः)** **'सव्यभिचार'** नामक हेत्वाभास होता है।

भावार्थ : जो हेतु व्यवस्थित होता है वह ऐकान्तिक कहा जाता है और जो हेतु व्यवस्थित नहीं होता है वह अनैकान्तिक कहा जाता है। ऐसा अनैकान्तिक हेतु सव्यभिचार हेतु कहा जाता है। अनैकान्तिक का शाब्दिक अर्थ है ऐसा हेतु जो पक्ष और विपक्ष दोनों जगह पर रहता है। यथा शब्दः नित्यः, अस्पर्शत्वात्, आत्मवत्। यहाँ अस्पर्शत्व हेतु नित्य पदार्थों में भी पाया जाता है और अनित्य पदार्थों में भी। जैसे बुद्धि। बुद्धि का अर्थ यहाँ ज्ञान है वह अनित्य है। इसलिए यहाँ अस्पर्शत्व

हेतु साध्य का साधक न होकर अनैकान्तिक होने से सव्यभिचार नामक हेत्वाभास है।

भूमिका : सव्यभिचार के बाद दूसरे **'विरुद्ध'** नामक हेत्वाभास का वर्णन करते हैं-

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।। ६।।

शब्दार्थ : **(सिद्धान्तम्)** अपने एक सिद्धान्त को **(अभ्युपेत्य)** स्वीकार कर **(तद्विरोधी)** उसी का विरोधी हेतु **(विरुद्धः)** **'विरुद्ध'** नामक हेत्वाभास कहा जाता है।

भावार्थ : किसी विषय पर परस्पर चर्चा चलने पर एक पक्ष कहता है कि "अयं प्रदेशः वह्निमान् ह्रदत्वात्" अर्थात् किसी ने अपने पक्ष में स्थापना की कि **'यह क्षेत्र अग्नि वाला है'**, हेतु दिया **'तालाब होने से'**। जहाँ तालाब है-जलाशय है वहाँ पर आग का होना सम्भव नहीं है। यह हेतु अग्नि का साधक न होकर अग्नि के अभाव का

साधक है, इसलिए इस हेतु को अपने ही सिद्धान्त का विरोधी होने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास कहा जाता है।

भूमिका : आगामी सूत्र में सूत्रकार तीसरे हेत्वाभास **'प्रकरणसम'** का लक्षण बताते हैं-

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः।। ७।।

शब्दार्थ : **(यस्मात्)** जिससे **(प्रकरणचिन्ता)** चर्चा-प्रसंग द्वारा जिज्ञासा प्रवृत्त हुई है, **(सः)** वह जब **(निर्णयार्थम्)** निर्णय के लिए

(अपदिष्टः) कह दिया जाता है, तब वह (प्रकरणसमः) प्रकरणसम नामक हेत्वाभास माना जाता है।

भावार्थ : प्रकरणसम का अर्थ है- किसी वस्तु के विषय में संशय के आधार पर पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में चर्चा (बातचीत) चालू रहती है, वह प्रकरण है। संशय को लेकर अन्तिम निर्णय होने तक किसी पदार्थ के विषय में जो चर्चा, विचार, बातचीत की जाती है, वह जिज्ञासा के आधार पर होती है। जिस कारण से जिज्ञासा उत्पन्न होती है उसी को जब निर्णय के लिए हेतु के रूप में रखा जाता है तो वह हेतु पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से किसी एक को न हटा सकने के कारण चर्चा को, बातचीत को समाप्त नहीं कर पाता, चर्चा चालू ही रहती है तो वह हेतु **'प्रकरणसम हेत्वाभास'** कहलाता है।

जैसे किसी ने कहा "शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः"। शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें नित्य धर्म की उपलब्धि नहीं है। दूसरे पक्षवाला कहता है कि "शब्दः नित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः"। शब्द अनित्य है क्योंकि इसमें अनित्य पदार्थ के

धर्म दिखाई नहीं देते हैं। दोनों के हेतुओं में विशेष हेतु के उपलब्ध न होने के कारण चर्चा चालू रहती है, समाप्त नहीं होती। इसलिए इसे प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं।

अन्य उदाहरण-पक्ष- "अयं मनुष्यः चौरः, अचौरस्य लक्षणानुपलब्धेः" यह मनुष्य चोर है क्योंकि इसमें चोर न होने के लक्षण अनुपलब्ध होने से।

प्रतिपक्ष–"अयं मनुष्यः अचौरः, चौरस्य लक्षणानुपलब्धेः" यह मनुष्य चोर नहीं है क्योंकि इसमें चोर के लक्षण दिखाई नहीं देते।

भूमिका : अब चौथे हेत्वाभास **'साध्यसम'** का लक्षण बताते हैं-

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।। ८।।

शब्दार्थ : (**साध्याविशिष्टः**) जो साध्य से भेद न रखता हो (साध्य के समान हो), ऐसा हेतु स्वयं (**साध्यत्वात्**) साध्य होने के कारण (**साध्यसमः**) 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास कहा जाता है।

भावार्थ : ऐसा धर्म जो अभी स्वयं ही साध्य है-अनिश्चित है, उसी को चर्चा में साधन के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, ऐसा साधन हेतु न होकर हेत्वाभास बना रहता है। जैसे- **"छाया द्रव्यम्, गतिमत्त्वात्"**। छाया द्रव्य है, गतिवाली होने से। यहाँ पर छाया गतिवाली है, या चलती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अर्थात् जैसा प्रकरण में छाया का द्रव्यत्व (कोई वस्तु है) साध्य है, वैसे ही हेतु रूप से रखा गया **"गतिवाली होना"** भी अभी साध्य है, सिद्ध नहीं है। यहाँ प्रकरण में गतिमत्त्व हेतु **'साध्यसम'** नामक हेत्वाभास है।

वस्तुतः छाया स्वयं कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। शरीरादि आवरक द्रव्य से पृथिवी पर पड़ने वाले प्रकाश का जो व्यवधान होता है वह छाया है। वह आवरक-शरीर चलता है तो उतने उतने स्थान पर प्रकाश नहीं पड़ता है। इसलिए यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि छाया एक द्रव्य है और स्वतन्त्र रूप से चलती है।

भूमिका : अब क्रम प्राप्त पाँचवें **'कालातीत'** हेत्वाभास का स्वरूप बताते हैं-

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।। ९।।

शब्दार्थ : **(कालात्ययापदिष्टः)** काल के बीत जाने से कहा गया हेतु **(कालातीतः)** **'कालातीत'** नामक हेत्वाभास होता है।

भावार्थ : चर्चा में जो हेतु प्रयुक्त किया जाता है, वह जब साध्य की सिद्धि के अवसर-काल को लांघ जाता है तो वह कालातीत नामक हेत्वाभास कहलाता है। जैसे किसी ने पक्ष रखा- "शब्द नित्य है, संयोग होने पर प्रकट होने से" जैसे लकड़ी पर कुल्हाड़े की चोट मारने पर शब्द प्रकट होता है तो पहले से ही वहाँ पर जैसे घर में रखी हुई वस्तुएं अन्धेरे में दिखाई नहीं देती, जब वहाँ प्रकाश लाया जाता है तो वहाँ पहले से रखी हुई वस्तुएं प्रकट हो जाती हैं। ऐसे ही शब्द पहले से ही नित्य रूप में विद्यमान है किन्तु लकड़ी कुल्हाड़े का संयोग उसे प्रकट करता है, उत्पन्न नहीं करता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यदि संयोग होने पर ही शब्द प्रकट हो तो, संयोग के न रहने पर सुनाई नहीं देना चाहिए, किन्तु पाँच-दस सेकण्ड के बाद दूरस्थ व्यक्ति को वह सुनाई देता है, उस समय लकड़ी कुल्हाड़े का संयोग तो रहता नहीं है। इसलिए आपका "संयोग व्यङ्ग्यात्" हेतु हेतु नहीं है बल्कि कालातीत हेत्वाभास है।

भूमिका : हेत्वाभास के निरूपण के पश्चात् अब सूत्रकार **'छल'** नामक ज्ञेय पदार्थ का स्वरूप बताते हैं-

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।। १०।।

शब्दार्थ : (वचनविघातः) दूसरे के कहे कथन को काटना, **(अर्थविकल्पोपपत्या)** अर्थ की विविध अथवा विरुद्ध कल्पना को उभारदेने के द्वारा, **(छलम्)** छल माना जाता है।

भावार्थ : किसी व्यक्ति ने एकबात कही, उसके कहे शब्दों या वाक्यों से अनेक अर्थ-अन्य अर्थ भी निकाले जा सकते हैं। किन्तु सामने वाला व्यक्ति वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके उसका खण्डन करता है तो वह छल कहलाता है।

भूमिका : गत सूत्र में **'छल'** का स्वरूप बताने के बाद अब **'छल'** के भेद-प्रकार बताते हैं

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च।। ११।।

शब्दार्थ : (तत्) वह छल **(त्रिविधम्)** तीन प्रकार का है, **(वाक्छलम्)** वाक्छल, **(सामान्यच्छलम्)** सामान्यछल **(च)** और **(उपचारच्छलम्)** उपचार छल।

भावार्थ : वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना छल जो बताया गया है उसके तीन विभाग-भेद होते हैं। **(१) वाक्छल (२) सामान्यच्छल और (३) उपचारच्छल।** इन तीनों का प्रयोग चर्चा में लोग प्रायः करते रहते हैं। इन तीनों का आगे के सूत्रों में विस्तार से वर्णन करेंगे।

भूमिका : छल का प्रथम प्रकार **'वाक्छल'** का लक्षण बताते हैं-

अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।। १२।।

शब्दार्थ : **(अविशेषाऽभिहिते)** सामान्यरूप से कहे गये **(अर्थे)** अर्थ-कथन में **(वक्तुः)** वक्ता के **(अभिप्रायात्)** अभिप्राय से **(अर्थान्तरकल्पना)** अन्य अर्थ की कल्पना करना **(वाक्छलम्)** वाक्छल है।

भावार्थ : चर्चा-बातचीत में जिन शब्दों का वाक्यों का प्रयोग किया जाता है उनमें से अनेक शब्दों तथा वाक्यों के अनेक अर्थ-भाव निकलते हैं। वक्ता अपने शब्द या वाक्य को बोलकर किसी विशेष अर्थ/भाव को बताना चाहता है। वक्ता का भाव क्या है ? वह किस अभिप्राय को मन में रखकर बोल रहा है यह सुनने वाला प्रायः समझ नहीं पाता यदि श्रोता को वक्ता का भाव/तात्पर्य समझ में नहीं आता है तो पूछ लेना चाहिए। ऐसा भी न करके वह जानबूझकर वक्ता के द्वारा बोले गये शब्दों का अपनी इच्छा से गलत अर्थ निकालकर उसका खण्डन करता है ऐसा करना वाक्छल कहलाता है जैसे वक्ता **"नवकम्बलोऽयं माणवकः"** वाक्य बोलता है **'नव'** शब्द के दो अर्थ होते हैं। (१) नया (२) नौ संख्या। वक्ता का तात्पर्य था यह बच्चा नये कम्बल को पहने हुए है किन्तु नया अर्थ न निकालकर छल करने वाला नव शब्द का दूसरा अर्थ नौ संख्या निकाल कर कहता है कि आप कहते हैं कि बच्चे के नौ कम्बल हैं, इस बच्चे के पास तो एक ही कम्बल है नौ कम्बल कहाँ है ? इस प्रकार वक्ता के सामान्य रूप से कहे गये वाक्य का उसके अभिप्राय से भिन्न अपनी कल्पना से दूसरा अर्थ निकालकर खण्डन किया गया है। वक्ता का तात्पर्य 'नौ' संख्या वाला नहीं था बल्कि 'नया' था। इस प्रकार के खण्डन को वाक्छल कहा गया है। ऐसा खण्डन लोक में व्यक्ति बहुधा करते हैं।

भूमिका : 'वाक्छल' के पश्चात् सूत्रकार अब **'सामान्य छल'** का निरूपण करते हैं-

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ।। १३ ।।

शब्दार्थ : (सम्भवतः) सम्भव होने वाले **(अर्थस्य)** अर्थ का **(अतिसामान्ययोगात्)** अत्यन्त सामान्य के साथ सम्बन्ध जोड़ देने से **(असम्भूतार्थकल्पना)** असम्भव अर्थ की कल्पना (कर दूसरे के वाक्य में दोष देना) **(सामान्यच्छलम्)** 'सामान्यच्छल' है।

भावार्थ : किसी वक्ता ने किसी वाक्य को बोलकर उस वाक्य के सम्भावित अर्थ बताने की अपनी भावना व्यक्त की, किन्तु छलवादी ने उस सम्भावना वाले अर्थ को न लेकर अति सामान्य अर्थ निकालकर असम्भव अर्थ निकालकर वक्ता का खण्डन कर दिया, ऐसा असम्भव अर्थ निकालना सामान्य छल कहलाता है। जैसे किसी ने कहा कि "अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः" अर्थात् बड़ी खुशी की बात है कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है। ऐसा सुनकर वक्ता ने यह वाक्य कहा **"संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्"** अर्थात् ब्राह्मण में विद्या और सदाचरण संभव है। यह सुनकर छल करने वाला, वक्ता का खण्डन करता हुआ कहता है कि फिर तो व्रात्य- (जो व्यक्ति ब्राह्मण के कुल में तो उत्पन्न हुआ है किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण नहीं है, वह भी विद्याचरण से युक्त होना चाहिए, ऐसा तो दिखाई नहीं देता है। वहाँ वक्ता के वाक्य में तात्पर्य उस विशेष व्यक्ति की प्रशंसा करनी थी न कि प्रत्येक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न

व्यक्ति की। छलवादी ने वक्ता के वाक्य का अतिसामान्य अर्थ निकालकर खण्डन कर दिया। वक्ता का तात्पर्य यह नहीं था कि प्रत्येक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न व्यक्ति-विद्या और आचरण से युक्त होता है। उसने तो जो विद्याचरण से युक्त था, उस ब्राह्मण की प्रशंसा की थी। किन्तु छलवादी ने प्रत्येक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न व्यक्ति को विद्याचरण से युक्त बताकर वक्ता के कथन में दोष बताया है। यह सामान्य छल है।

भूमिका : आगामी सूत्र में महर्षि गौतम **'छल'** के तीसरे प्रकार **'उपचार छल'** का स्वरूप बता रहे हैं-

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।। १४।।

शब्दार्थ : (धर्मविकल्पनिर्देशे) धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर **(अर्थसद्भावप्रतिषेध)** अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना **(उपचारच्छलम्)** 'उपचारछल' है।

भावार्थ : शब्द का धर्म है उस वस्तु का ज्ञान कराना, जिसके लिए वह बना है। शब्द से अर्थ-वस्तु का ज्ञान कराने की पद्धति अनेक प्रकार की होती है। शब्द से अर्थ का बोध कराने की तीन पद्धतियां हैं।

(१) अभिधाशक्ति (२) लक्षणाशक्ति (३) व्यञ्जनाशक्ति।

वक्ता कभी अभिधाशक्ति से वस्तु का ज्ञान कराता है तो छलवादी के द्वारा लक्षणाशक्ति के आधार पर वस्तु का खण्डन कर देना और कभी वक्ता के द्वारा लक्षणाशक्ति से वस्तु का ज्ञान कराने पर छलवादी के द्वारा अभिधाशक्ति के आाधार पर वस्तु का खण्डन कर देना उपचारछल कहलाता है।

उदाहरण-किसी ने सामान्य रूप से दूसरे व्यक्ति को कहा कि **"आपको रिक्शा बुला रहा है"** तो छलवादी ने खण्डन करते हुए कहा कि **"क्या कभी रिक्शा बोलता है, वह तो जड़ है"**। वक्ता ने लक्षणा मूलक औपचारिक वाक्य का प्रयोग किया, किन्तु श्रोता **"छलवादी"** ने अभिधाशक्ति के आधार पर वक्ता का खण्डन किया कि रिक्शा कैसे बोल सकता है, वहाँ पर तो रिक्शा चालक बुला रहा है। संसार में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना मूलक सभी प्रकार के प्रयोग परस्पर व्यवहार में किये जाते हैं और लोग उनको मान भी लेते हैं।

भूमिका : छल के जो तीन भेद किये हैं उन पर आक्षेप करता हुआ कोई व्यक्ति कहता है कि दूसरा और तीसरा छल तो एक जैसा ही है, इसलिए तीन विभाग न करके दो विभाग ही करने चाहिएँ-

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्।। १५।।

शब्दार्थ : **(वाक्छलम्)** वाक्छल **(एव)** ही **(उपचारच्छलम्)** उपचार छल है, **(तदविशेषात्)** उन दोनों में अविशेष-समानता होने से।

भावार्थ : कोई व्यक्ति जिज्ञासावशात् यह कहता है कि वाक्छल, उपचारच्छल जैसा ही है, दोनों समान हैं तो फिर उपचारछल को अलग से कहने की क्या आवश्यकता है ?

भूमिका : इस पर सूत्रकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि नहीं दूसरा तथा तीसरा छल एक नहीं हैं। वहाँ पर अर्थ का भेद है-

न तदर्थान्तरभावात्।। १६।।

शब्दार्थ : उपचारछल का समावेश वाक्छल में सम्भव **(न)** नहीं है, क्योंकि **(तदर्थान्तरभावात्)** उन दोनों में परस्पर भेद होने से।

भावार्थ : वाक्छल और उपचारछल दोनों में भेद होने से दोनों एक नहीं हैं। वाक्छल में केवल अर्थान्तर की कल्पना है, पूर्व सूत्र के उदाहरण में आये **'नव'** शब्द का अर्थ नौ संख्या को लेकर **'नव'** के दूसरे अर्थ **'नये'** का खण्डन किया गया है किन्तु उपचारछल के लक्षण में अर्थ-वस्तु के सद्भाव-सत्ता का ही निषेध कर दिया गया है। वाक्छल में अर्थ-कम्बल का प्रतिषेध नहीं है केवल 'नव' शब्द का दूसरा अर्थ निकाला गया है। किन्तु उपचारछल में तो अर्थ रिक्शा के बोलने का ही निषेध कर दिया गया है। वहाँ प्रतिवादी कहता है कि रिक्शा नहीं बुला रहा है, रिक्शा चालक बुला रहा है। इस प्रकार दोनों में भेद होने से वाक्छल तथा उपचारछल को एक नहीं मानना चाहिए।

भूमिका : जिज्ञासु को स्पष्ट बताने के लिए सूत्रकार ने अन्य प्रकार से बताने का प्रयास किया कि-

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसंगः।। १७।।

शब्दार्थ : **(अविशेषे)** भेद न मानने पर **(वा)** तो **(किञ्चित्-साधर्म्यात्)** किञ्चित साधर्म्य से **(एकछलप्रसंगः)** एक छल को मानने का प्रसंग आयेगा।

भावार्थ : इस सूत्र में वाक्छल तथा उपचारछल के भेद को न मानने वाले को और प्रकार से स्पष्ट किया गया है। सूत्रकार कहते हैं कि थोड़े से साधर्म्य से आप वाक्छल तथा उपचार छल को एक ही मान लेने का आग्रह कर रहे हैं, फिर तो थोड़ा थोड़ा साधर्म्य तीनों में भी है। फिर तो छल दो ही क्यों माने, तीनों को एक ही मान लेना चाहिए क्या बाधा है ? इसलिए थोड़ी थोड़ी समानता होने पर भी कुछ

विषमता-विभिन्नता होने से छल एक बनाकर तीन प्रकार के भेद किये हैं।

भूमिका : छल का विवरण प्रस्तुत करने के बाद सूत्रकार ने क्रम प्राप्त आगामी ज्ञेय पदार्थ **'जाति'** का लक्षण बताया है-

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।। १८।।

शब्दार्थ : (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां) साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा (वादी के उपस्थापित हेतु का) **(प्रत्यवस्थानं)** प्रतिषेध करना **'जाति'** नामक पदार्थ है।

भावार्थ : वादी के द्वारा अपने पक्ष की प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयवों से प्रस्तुति की जाती है, किन्तु प्रतिवादी जब यह देखता है कि इसका पक्ष प्रबल है और मैं इसका ठीक उत्तर नहीं दे पाऊँगा, इसलिए वह हार से बचने के लिए, श्रोताओं को प्रभावित कराने के लिए तथा वादी को किसी न किसी प्रकार से निरुत्तर-चुप कराने के लिए समान धर्म से या विपरीत धर्म से वादी के पक्ष का प्रतिषेधार्थ रूपी जाति का प्रयोग करता है। यदि वादी उससे दब जाता है, उसकी जाति प्रयोग को न समझकर उसका ठीक ठीक उत्तर नहीं दे पाता है-खण्डन नहीं करता है तो प्रतिवादी का वादी को हराने का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है और चर्चा में वह जीता हुआ माना जाता है।

उदाहरण - वादी ने पक्ष रखा - **"शब्द अनित्य है", "उत्पन्न होने से", घड़े के समान**। अब प्रतिवादी ने जाति का प्रयोग किया, उसने कहा-घड़ा मूर्त है और अनित्य है-तात्पर्य हुआ जो मूर्त होता है

वह अनित्य होता है। जो मूर्त नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता है जैसे आकाश। आकाश मूर्त नहीं है और अनित्य भी नहीं है, नित्य है। शब्द भी मूर्त नहीं है-अमूर्त है, तब वह भी आकाश के समान नित्य होना चाहिए। इसलिए वादी का शब्द को अनित्य बताया जाना दोषपूर्ण है। यहाँ पर वादी के द्वारा साधर्म्य से प्रयोग किये हुए हेतु का वैधर्म्य से प्रतिषेध जाति प्रयोग के अनुसार प्रस्तुत किया गया है।

भूमिका : 'जाति' के बाद महर्षि ने अन्तिम ज्ञेय पदार्थ **'निग्रहस्थान'** का लक्षण बताया-

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।। १६।।

शब्दार्थ : (विप्रतिपत्तिः) अभिमत से विपरीत **(च)** और अवाञ्छनीय कथन कर देना अथवा **(अप्रतिपत्तिः)** अज्ञानता से चुप रह जाना **(निग्रहस्थानम्)** निग्रहस्थान कहाता है।

भावार्थ : चर्चा करते हुए घबराहट के कारण अथवा वादी के कथन का ठीक ठीक उत्तर न दे सकने के कारण या अपने ही अभिमत-सिद्धान्त के विरुद्ध बोल देना अथवा ऐसी बात कह देना जो सभा में उस प्रसंग में निन्दनीय, अनुचित, अभद्र, अशिष्ट मानी जाये, ऐसी स्थिति को निग्रहस्थान कहते हैं यह पराजय का अवसर माना जाता है। इसे **'विप्रतिपत्ति'** कहते हैं। वादी के द्वारा जो अपने पक्ष की स्थापना की गयी है या प्रतिवादी का जो खण्डन किया गया है, उसका अपनी अज्ञानता-मूर्खता के कारण प्रतिवादी न तो वादी के पक्ष का खण्डन करता है और न वादी द्वारा अपने पर लगाये गये प्रतिषिद्ध पक्ष

का उद्धार-मण्डन करता है। हतप्रभ होकर चुपचाप मौन रह जाता है, कुछ भी नहीं बोलता है, यह स्थिति **'अप्रतिपत्ति'** नामक निग्रहस्थान है। निग्रहस्थान पराजय का सूचक है।

भूमिका : शिष्य जिज्ञासा करता है कि क्या जाति, निग्रहस्थान के कोई भेद-प्रकार भी होते हैं या नहीं होते हैं ? इस जिज्ञासा का महान्यायविद् ऋषि गौतम उत्तर देते हैं कि **जाति, निग्रहस्थान** के भी अनेक भेद होते हैं-

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।। २०।।

शब्दार्थ : उन **(तद्विकल्पात्)** (साधर्म्य और वैधर्म्य के एवं विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के) विविध तथा परस्पर विरोधी प्रकारों के आधार पर **(जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्)** जाति और निग्रहस्थान के अनेक भेद हो जाते हैं।

भावार्थ : सूत्र में **'तत्'** सर्वनाम १८ वें सूत्र में आये साधर्म्य तथ वैधर्म्य तथा १९ वें सूत्र में आये विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति पदों को बताता है साधर्म्य और वैधर्म्य के एवं विप्रतिपत्ति, अप्रतिपत्ति के विविध प्रकार के तथा परस्पर विरोधी प्रकारों के आधार पर जाति तथा निग्रहस्थानों के बहुत से भेद हो जाते हैं। पाँचवें अध्याय के प्रथम तथा दूसरे आह्निक में जाति के **चौबीस** और निग्रहस्थानों के **बाईस भेद** बताये गये हैं। उनका विस्तार से वर्णन वहाँ पर देख लेना चाहिए।

।। इति प्रथमोऽध्यायः।।